माघ–प्रणीत

शिशु पाल वध महाकाव्य

प्रथम सर्ग

[हिन्दी अनुवाद एव व्याख्यादि के साथ]

व्याख्याता

डा० आद्या प्रसाद मिश्र,

अध्यक्ष सं० वि० प्रयाग विश्वविद्यालय

डा० चन्डिका प्रसाद शुक्ल,

रीडर, प्रयाग विश्वविद्यालय

द्वितीय सस्करण, १९६९

भट्ट संस्कृत साहित्य भण्डार

६२९, युनिवर्सिटी रोड,

इलाहाबाद-२

प्रकाशक :
भट्ट सस्कृत साहित्य भण्डार
६२६, युनिवर्सिटी रोड,
इलाहाबाद-२

मुद्रक :
जय भारत प्रिन्टिग प्रेस
युनिवर्सिटी रोड,
इलाहाबाद-२



नम्र निवेदन

वैसे तो शिशुपालवध के कई अनुवाद निकल चुके है। उनमे कुछ अँग्रेजी मे तथा कुछ हिन्दी मे भी है। अँग्रेजी के अनुवाद मल्लिनाथ की सस्कृत टीका के साथ व्याकरणात्मक टिप्पणियो के होने से अधिक उपादेय है पर अब विश्वविद्यालयो की बी० ए० परीक्षाओ मे हिन्दी माध्यम ही से उनमे बैठने वाले छात्रो के लिए उनकी उतनी उपादेयता नही रह गई है। इसके अतिरिक्त माघ का यह काव्य शास्त्री आदि परीक्षाओ के पाठ्य क्रम मे भी निर्धारित है। अत. विशेष रूप से उनके लिए हिन्दी मे ऐसा अनुवाद होना चाहिए जिसमे अनुवाद के साथ व्याकरण, कोष, अलकार आदि के सम्बन्ध मे भी टिप्पणियाँ दी गई हो। इसी दृष्टि को लेकर इस काव्य का प्रथम सर्ग छात्रो के सम्मुख प्रस्तत किया जा रहा है। द्वितीय सर्ग भी शीघ्र ही निकल रहा है। आशा है, यह पुस्तक विद्यार्थियो के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध मे निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम सस्करण आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व वि० स० २०११ प्रकाशित हुआ था और प्रकाशित होने के तीन ही साल के अन्तर्गत समाप्त भी हो गया था। परन्तु व्यक्तिगत व्यस्तताओ एव कठिनाइयो के कारण इसके लेखक द्वितीय सस्करण प्रकाशित न करा सके। इसके टकसाली हिन्दी अनुवाद एव सुन्दर टिप्पणी आदि के कारण इसकी माँग पाठको की ओर से सदैव होती रही। उनके अनुरोध से ही यह द्वितीय सस्करण पूरे पन्द्रह साल बाद निकल रहा है। पूर्व सस्करण की छापे की अशुद्धियो को प्रायेण परिहार हो गया है। यत्र-तत्र कुछ और भी सशोधन कर दिए गए है।

हमे विश्वास है कि पूर्ववत् ही गुणग्राही पाटको द्वारा गृहीत होकर यह पुस्तक उनका अमित कल्याण करेगी।

नागपचमी, २०२६ विक्रमाब्द
प्रयाग

आद्याप्रसाद मिश्र

माघ और उनका काव्य

नवम शताब्दी के बाद सस्कृत कवियो पर कालिदास के अतिरिक्त जिनका सबसे अधिक प्रभाव दिखाई पडता है, वे है शिशुपालवध के रचयिता अमर महाकवि माघ। और दशम शताब्दी के बाद की सस्कृत काव्य-रचना को देखने से तो कभी २ ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उस समय के कवियो के आदर्श कालिदास की अपेक्षा माघ ही अधिक रहे हो (कुछ-कुछ भट्टि की शैली का भी अनुकरण दीख पडता है) क्योकि उस समय तक काव्य मे पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना अधिक प्रबल हो चुकी थी, जिसके लिए कालिदास मार्गदर्शक नही बन सकते थे। यद्यपि सर्वप्रथम भारवि ने पाण्डित्य-प्रदर्शन की शैली को अपने काव्य मे जन्म दिया किन्तु अपने प्रबल स्पर्द्धालु [श्रद्धालु ?] माघ की प्रतिभा से वे इतने आच्छन्न[1] हो चुके थे कि शिशुपालवध के सम्मुख किरातार्जुनीय एक सरल काव्य[2] बन गया था।

यद्यपि महाकवि माघ भी अपने जीवन-काल आदि के विषय मे कालिदास आदि अन्य सस्कृत कवियो की ही भाति मौन है, परन्तु सौभाग्यवश इन्होने अपने काव्य 'शिशुपालवध' के अन्त[3] मे अपने पिता, पितामह आदि का तो नामोल्लेख कर ही दिया है। इन्होने अपने

१—"तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ॥"

२—"माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे। स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा ॥"

"कृत्स्नप्रबोधकृद्वाणी भारवेरिव भारवेः। माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते ॥"

३—द्रष्टव्य शिशुपालवध के अन्तिम पाँच श्लोक।

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवानमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम् ।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्का निकषा हनिष्यति ॥

अन्वय—भवान् दाशरथिः भवन् वनान्तात् वनितापहारिणम् अमुम् आबद्धचलज्जलाविल पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति । अदः स्मरति ?

अर्थ—आपने दशरथपुत्र राम बनकर दण्डकारण्य से सीता जी को चुराने वाले उसे, बाँधे जाने के कारण चञ्चल अत एव गन्दे समुद्र को पार कर, लङ्का के समीप मारा था—स्मरण है न ?

स्मरतीति ॥ भातीति भवान् । भातेर्डवतुः । दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः । 'अत इञ्' इतीञ्प्रत्ययः । भवन् । रामः सन्नित्यर्थः भवतेर्लटः शत्रादेशः । वनान्ताद्दण्डकारण्याद्वनितापहारिणं सीतापहर्तारममुं रावणम् । आबद्धः प्रक्षिप्ताद्रिभिर्बद्धसेतुः अतएव चलन्ति जलानि यस्य स च । अत एव आविलश्च आबद्धचलज्जलाविल पयोधिं विलङ्घ्य लङ्का निकषा लङ्कासमीपे । 'समयानिकषाशब्दौ सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः । 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । हनिष्यति अवधीत् । अभिज्ञावचने लृट् इति भूते लृट् । अदो हनन भवान्स्मरतीति काकुः । प्रत्यभिजानासि किमित्यर्थः । शेषेप्रथमः ॥

व्याकरण—दाशरथिः—दशरथस्य अपत्यं पुमान् इति दाशरथिः (दशरथ + इञ्) ॥ वनितापहारिणम्— वनिताम् अपहृतवान् इति वनितापहारी (वनिता + अप + हृ + णिनिःकर्तरि), । तम् ॥ आबद्ध-चलज्जलाविलम्—चलन्ति जलानि यस्य स चलज्जलः (ब० ब्री०) । आबद्धश्च चलज्जलश्च आ—लः (कर्मधा०) । तादृशश्च आविलश्चेति आबद्ध–लः (कर्मधा०), तम् ॥

लङ्काम्—निकषा (समीपार्थ अव्यय) के योग मे लङ्काम् मे द्वितीय प्रयुक्त हुई है। हनिष्यति—हन्+लृट् तिप् (यहाँ 'अभिज्ञावचने लृट् ३।२।११२'' अर्थात् जहा अतीत की स्मृति दिलाने वाला शब्द प्रयुक्त होता है, वहा भूतार्थ मे ही लृट् लकार का प्रयोग किया जाता है—' इस नियम से लृट् लकार का प्रयोग किया गया है।

कोष—वनिता = ''वनिता जनितात्यर्थनुरागाया च योषिति''

आविल = कलुषोऽनच्छ आविलः—अमर।

भावार्थ—तदा दशरथपुत्रत्वेनावतीर्णो भवान् वनमध्यात् दाराप-हारिणम् एन पयोधौ सेतु निर्माय्य तमुल्लङ्घ्य लङ्कामाक्रम्य युद्धे हतवान् इति किं स्मरति ?

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम्।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यस :परैः ॥६९॥

अन्वय—अथ सम्प्रति छलनापरः एषः शैलूषः भूमिकाम् इव अपराम् उपपत्तिम् अवाप्य शिशुपालसज्ञया तिरोहितात्मा सोऽपि परैः असः प्रतीयते।

अर्थ—इसके अनन्तर अब दूसरो को छलने मे तत्पर यह रावण अन्य रूप धारण करने वाले नट की भाँति दूसरा जन्म धारण करने एवं शिशुपाल नाम द्वारा पूर्वस्वरूप के छिप जाने से वही होने पर भी दूसरों को उससे भिन्न प्रतीत होता है।

अथेति ॥ अथ राक्षसदेहत्यागानन्तरं संप्रति छलनापरः परप्रतारणापरः एष रावणः शैलूषो नटः। तस्य भूमिका रूपान्तरमिव। ''शैलूषो नटभिल्लयोः' 'भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे' इति विश्वः। अपरामुपपत्तिम्। जन्मान्तर-मित्यर्थः। अवाप्य शिशुपालसज्ञया तिरोहितात्मा। तिरोहितस्वरूपः सन् सोऽ

पि रावण एव सन्नपि परैरितरैः स न भवतीत्यसः तस्मादन्य एव। 'नञ्' इति नञ्समासः। अत एव एतत्तदोः सुलोपो—' इत्यादिना न सुलोपः। प्रतीयते ज्ञायत इति प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लट्। यथैक एव शैलूषो रूपान्तरमास्थाय तद्देशभाषादिभिरन्य एव प्रतीयते तद्वदयमपि मानुषदेहपरिग्रहादन्य इव भाति। दौर्जन्य तु तदेवेत्यवश्य साहर्य इति भावः॥

व्याकरण—उपपत्तिम्—उप+पद्+क्तिन् भावे स्त्रियाम्, ताम्॥ छलनापरः—छलना पर प्रधान यस्य सः छलनापरः (ब०व्री०) अवाप्य—अव+आप्+ल्यप्॥ तिरोहितात्मा—तिरोहितः आत्मा यस्य स तिरोहितात्मा (ब० व्री०)॥ शिशुपालसंज्ञया— शिशुपाल इति सज्ञा शि—ज्ञा (कर्मधा०), तथा॥ प्रतीयते—प्रति+इ+लट् त कर्मणि॥ असः—न सः असः (नञ्-तत्पु०) नञ् समास होने के कारण ही यहाँ तद् (सः) का विसर्ग (आगे हल् वर्ण के रहते हुए भी) लुप्त नहीं हुआ—"एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्-समासेहलि ६।१।१३२॥

भावार्थ—यथा नटः रूपान्तरमाधाय अन्य इव प्रतीयते तथैव स रावण एव साम्प्रतं शिशुपाल इति मनुष्यविग्रहमाधाय अन्य इव भासते॥

अथैतद्दौर्जन्य त्रिभिराविष्करोति—

स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसशय सम्प्रति तेजसा रविः॥७०॥

अन्वय—स बालः (सन्) वपुषा चतुर्भुजः, मुखेन पूर्णेन्दुनिभः त्रिलोचनः आसीत्। सम्प्रति युवा (सन्) कराक्रान्तमहीभृत् उच्चकैः तेजसा असशयं रविः (अस्ति)।

अर्थ—यह शिशुपाल बालक रहने पर शरीर से चार भुजाओ वाला, मुख से पूर्ण चन्द्रमा के समान एव तीन नेत्रो वाला था। इस समय जवान होने पर यह (बलवान्) करों से राजाओ को आक्रान्त कर अपने महान् तेज से निस्सन्देह स्वकिरणों से पर्वतो को आकान्त करने वाला सूर्य ही है।

टिप्पणी—चतुर्भुज और त्रिलोचन पदो से यह भी अर्थ ध्वनित होता है कि वह विष्णु और शिव के समान दुर्धर्ष एव अजेय है।

स बाल इति—स शिशुपालो बालः सन् वपुषा चतुर्भुजो भुजचतुष्टयवानासीत्। विष्णुरिति ध्वनिः मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्तत्तुल्यः त्रिलोचनो लोचनत्रयवानासीत्। त्र्यम्बक इति ध्वनिः। बालविशेषणात्संप्रति तत्सर्वमन्तर्हितमिति भावः। संप्रति तु युवा सन्करेण बलिना आकान्तमहीभृदधिष्ठितराजकः सन्। अन्यत्रांशुव्याप्तशैलः। 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः। उच्चकैस्तेजसा रविरसंशयम्। संशयो नास्तीत्यर्थः। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। वपुषा मुखेन चेति। 'येनाङ्गविकारः इति तृतीया। हानिवदाधिक्यस्यापि विकारत्वात्। तथा च वामनः—'हानिवदाधिक्यमप्यङ्गविकारः' इति। तेजसेति 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया। कराक्रान्तेत्यादिना श्लेषानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा। रविरसंशयमिति तस्य पूर्णेन्दुनिभ इत्युपमया संसृष्टिः। हरिहरादितुल्य-महिमत्वादतिदुर्धर्षः स इति भावः॥

व्याकरण— वपुषा—यहाँ येनाङ्गविकारः से तृतीया विभक्ति हुई है। इसी प्रकार मुखेन मे भी समझना चाहिए। यहाँ अंग-विकार अगहीनता के कारण नहीं अपितु अंगाधिक्य के कारण है। पूर्णेन्दुनिभः—पूर्णः इन्दुः पूर्णेन्दुः (कर्मधा०), तेन तुल्यः पूर्णेन्दु-निभः (नित्य समास)॥ कराक्रान्तमहीभृत्—करेण आक्रान्ताः कराक्रान्ताः (तृ० तत्पु०), कराक्रान्ता महीभृतः (राजनजाः,)

पर्वता वा) येन सः करा—भृत् (ब० व्रो) ।। तेजसा— यहाँ 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' नियम से तृतीया हुई है ।।

अलङ्कार—यहाँ 'कर' तथा महीभृत्' मे आए हुए श्लेष से अनुप्राणित 'यह निश्चय (असशयम्) रवि ही है' इस प्रकार का उत्प्रेक्षाअलङ्कार है। फिर इस उत्प्रेक्षा अलकार को 'पूर्णेन्दुनिभः' मे प्रयुक्त उपमा के साथ 'संसृष्टि' भी है।

भावार्थ—असौ शिशुपालः बाल्ये, त्रिभिर्लोचनैः चतुर्भिर्भुजैश्च युक्तः पूर्णचन्द्रसदृशाननः आसीत् सम्प्रति यौवने च धाम्ना साक्षात् रविरिव प्रतीयते ।।

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया
दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्हसत्यसौ ।।७१।।

अन्वय—यदृच्छया स्वयं सुरदैत्यरक्षसाम् अनुग्रहावग्रहयोः विधाता असौ अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् दशाननादीन् हसति ।

अर्थ—स्वेच्छा से देवताओं, दैत्यों और राक्षसो पर स्वयं ही अनुग्रह (प्रसाद) एवं निग्रह (दण्ड) करने वाला यह शिशुपाल आराधित (शिवादि) देवो के द्वारा दिए गए महान् पराक्रम वाले रावण आदि का परिहास करता है।

टिप्पणी– -शिशुपाल रावण आदि अन्य ऐश्वर्यशाली राक्षसो का इसलिए परिहास करता है कि देवो और दानवों पर होने वाला उनका प्रभुत्व शिव आदि देवों से ही (तपस्या करने पर) प्राप्त हुआ था परन्तु उसका प्रभुत्व अपने ही सामर्थ्य के कारण था।

स्वयमिति ।। यदृच्छया स्वयं सामर्थ्येन । न तु देवताप्रसादबलादिति भावः । सुरदैत्यरक्षसा देवदानवयातुधानानामनुग्रहावग्रहयो प्रसादनिग्रहयोर्विधाता

कर्ता असौ शिशुपालः अभिराद्धाभिराराधिताभिर्देवताभिरीश्वरादिभिर्वितीर्णो दत्तो वीर्यातिशयः प्रभावातिशयो येषां तान्दशाननादीन्हसति । अनन्यप्रसादलब्धैश्वर्ये मयि कथं याचकैस्तुल्यतेति गर्वाद्धसतीत्यर्थः ॥

व्याकरण—सुरदैत्यरक्षसाम्—दितेः अपत्यानि पुमांसः दैत्याः (दिति + ण्य) । सुराश्च दैत्याश्चरक्षांसि च सुरदैत्यरक्षांसि (द्वन्द्व), तेषाम् ॥ अनुग्रहावग्रहयोः—अनुग्रहश्च (अनु + ग्रह + अप् भावे) अवग्रहश्चेति, अनु— हौ (द्वन्द्व) तयोः ॥ अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्—अभिराद्धाः (अभि + राधु + क्त कर्मणि) देवताः, अ—ताः (कर्मधा०) । ताभिः वितीर्णः, अभि-–र्णः (तृ० तत्पु०); अभिराद्धदेवतावितीर्णः वीर्यातिशयः येभ्यः ते अभि—याः (ब० व्री), तान् ॥

भावार्थ—सर्वथा स्वच्छन्दस्य देवदानवराक्षसानपि अभिभवितुः मे पुरतः अन्यप्रसादाल्लब्धैश्वर्याणाम् दशाननादीनां पूर्वेषां का गणनेति शिशुपालः सावहेलं तान् हसतीव ॥

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ७२

अन्वय—जिगीषुणा तेन बलावलेपात् अधुनापि पूर्ववत् जगत् प्रबाध्यते । सती योषित् इव सुनिश्चला प्रकृतिः भवान्तरेष्वपि पुमांसम् अभ्येति ।

अर्थ—विजयाभिलाषी यह शिशुपाल अपने पूर्व जन्मों की भाँति इस जन्म में भी जगत् को सन्ताप दे रहा है । सती स्त्री की भाँति मनुष्य की सुस्थिर प्रकृति दूसरे जन्मों में भी उसका अनुसरण करती है—उसे प्राप्त होती है ।

बलेति ॥ जिगीषुणा । नित्योत्साहवतेत्यर्थः । तेन शिशुपालेन बलावलेपाद्बलगर्वादधुनापि पूर्ववत्पूर्वजन्मनीव जगत्प्रबाध्यते । तथा हि सती पतिव्रता

योषिदिव सुनिश्चलातिस्थिरा प्रकृतिः स्वभावो भवान्तरेषु जन्मान्तरेष्वपि पुमांसमभ्येति। 'पतिं या नाभिचरति मनोवाक्कायसंयता सा भर्तुर्लोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥' इति मनुः। उपमोपमेयपुरस्कृतोऽर्थान्तरन्यासः ॥

व्याकरण—बलावलेपात्—बलस्य अवलेपः (अव+लिप्+घञ्) ब—पः (षं० तत्पु०) तस्मात् ॥ पूर्ववत्—यथा पूर्वयोः (हिरण्यकशिपुरावणजन्मनोः) इति पूर्ववत् (पूर्व+वति) यहा 'तत्रतस्येव' ५।१।११६ " 'वहाँ की भाँति' तथा 'उसकी भाँति' इस अर्थ मे प्रातिपदिक (शब्द) से वति प्रत्यय हुआ। जिगीषुणा—जेतुमिच्छुः जिगीषुः (जि+सन्+उ कर्तरि), तेन ॥ भवान्तरेषु—अन्ये भवाः भवान्तराणि (मयूरव्यसकादि समास), तेषु ॥

कोष—प्रकृति—'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः। योनौ लिङ्गे पौरवर्गे" इति मेदिनी ॥ भव—'जन्महरौ भवौ इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ पूर्व का उत्तर से समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलकार है और इसकी पुष्टि 'सतीव योषित्' मे प्रयुक्त उपमा द्वारा की गई है।

भावार्थ—यथा पूर्वयो. हिरण्यकशिपुरावणजन्मनोः जगत्पीडनम् अस्य स्वभाव आसीत् तथैव अस्मिन् शिशुपालजन्मन्यपि बलगर्वात् वर्तते। वस्तुतस्तु पतिव्रता भार्येव जनस्य प्रकृतिः जन्मान्तरेष्वपि तमनुयात्येव ॥

तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम्।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो निपातनीया हि सतामसाधवः ॥७३।

अन्वय—ततः विधे· उल्लङ्घितशासनम् एनं कीनाशनिकेतनातिथिं विधेहि शुभेतराचारविपक्त्रिमापद असाधव सतां निपातनीया हि।

अर्थ—अतएव विधाता की (भी) आज्ञा का उल्लघन करने वाले इस शिशुपाल को यमपुरी का अतिथि बनाइए क्योंकि (अपने) दुराचारों के फलस्वरूप प्राप्त हुई आपदाओ वाले दुर्जनो का विनाश तो सज्जनों को करना ही चाहिए।

तदेनमिति ॥ तत्तस्माद्विधेर्विधातुरप्युल्लङ्घितशासनम् । स्वयं विधातेत्याद्यु क्तरीत्यातिकान्तदैवशासनमित्यर्थ:। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समास:। एन शिशुपाल कीनाशनिकेनातिथि कीनाशो यमस्तस्य निकेतनं गृहं तत्रातिथि प्राघुणिक विधेहि कुरु। यमगृह प्रेषयेत्यर्थ·। 'कीनाश. कर्षके क्षुद्रे कृतान्तोपाशु घातिनोः' इति विश्वः। न चैत्प्राघुणिकहस्तेन सर्पमारख भवादृशामवश्यकर्त्तव्यत्वादित्याह—शुभेतराचारेण दुराचारेण विपक्त्रिमा: परिपाकेन निर्वृत्ता कालपरिपाकेन प्राप्ता आपदो येषां ते तथोक्ताः। 'ड्वित: क्त्रि:' इति पचे: 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति तद्धितो मम्प्रत्यय·। असाधवो दुष्टा· सतां भवादृशां जगन्नियन्तृणां निपातनीया: वध्या हि न च नैर्घृण्यदोष·। स्वदोषेणैव तेषां विनाशे निमित्तमात्रत्वादस्माकमित्याशयेन शुभेतराचारेत्यादिविशेषणोक्तिः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास: ॥

व्याकरण—उल्लङ्घितशासनम्—उल्लङ्घितं (उद्+लङ्घ्+क्त कर्मणि) शासनं येन स उल्ल—नः (ब० व्री०), तम् ॥ कीनाशनिकेतनातिथिम्—की (कुत्सितार्थे अव्ययम्) नाशयति इति कीनाशः यमः (की+नश्+णिच्+अच्)। तस्य निकेतनम् की—तनम् (ष० तत्पु०)। तस्य अतिथिः कीना······तिथि: (ष० तत्पु०) तम् ॥ शुभेतराचारविपक्त्रिमाप द:—शुभात् इतरः शुभेतर (सुप्सुपा)। तादृश आचारः, शुभे··· चार. (कर्मधा०), तेन विपक्त्रिमा (वि+पच्+क्त्रि भावे+मम्—विशेष

सर्वङ्कषा मे) ॥ तादृश्यः आपदः येषा ते शुभे'' मपदः (ब० व्री०) ॥ सताम्—(अस्+शतृ कर्तरि) सन्त., तेषाम्—यहाँ कृत्यानां कर्तरि वा २।२।७१ नियम से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हुई है ।) ॥

कोष—कीनाश—कृतान्ते पुसि कीनाशः क्षुद्रकर्षकयोस्त्रिषु—इत्यमरः ।

अलङ्कार—यहाँ विशेष (शिशुपालवध) का समर्थन सामान्य (सज्जन द्वारा असाधुवध होना चाहिए—इसके) द्वारा किया गया हैं अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

भावार्थ—अतः अतिक्रान्तमर्याद दुष्टमेन शिशुपालं भवान् अवश्य निपातयतु यतः दुराचारिणः सद्भिः सदा दण्डनीया एव ।

हृदयमरिवधोदयादुदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरंदरस्य
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥७४॥

अन्वय—अरिवधोदयात् उदूढद्राधिम पुरन्दरस्य हृदय पुनः घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् दधातु ।

अर्थ—शत्रु के नाश से दृढीभूत इन्द्र का वक्षःस्थल फिर से अत्यन्त पुलकित इन्द्राणी के स्तनो के गाढालिङ्गन की पीडा को सहने योग्य बन जाय ।

हृदयमिति ॥ अरिवधोदयाद्रिपुनाशलाभात् । उदूढद्रढिम नैश्चिन्त्याद्दृढतादार्ढ्यम् । स्वस्थमितियावत् । पृथ्वादित्वाद्दृढशब्दादिमनिच्प्रत्ययः 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रेफादेशः । पुरः शत्रुपुराणि दारयतीति पुरंदर इन्द्रः । 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रयः 'खचिह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वः। 'वाचयमपुरंदरौ च' इति निपातनादनन्तत्व मुमामगमश्च तस्य हृदयं पुनर्भूयोऽपि ।

पूर्ववदेवेति भावः। घनपुलकयो सान्द्ररोमाञ्चयोः। पुलोम्नो जाता पुलोमजा शची तस्याः कुचाग्रयोद्रु तपरिरम्भ औत्सुक्याच्छीघ्रालिङ्गनं तत्र यत्पीडनं तस्य क्षमत्वं सहत्व दधातु। प्राक्चित्तविक्षेपात्यक्तभोगेन शक्रेण सम्प्रतित्वत्प्रसादान्निष्कण्टकं स्वकीय राज्य भुज्यतामित्यर्थः। अत्र दाढ्र्यपदार्थस्योदूढद्रढिमेति विशेषणगतया निपीडनक्षमत्वं प्रति हेतुतोक्त्या पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गम्। हृदयनिपीडनक्षमत्वसंबन्धेऽप्यसबन्धोक्त्यासबन्धेऽसबन्धरूपापितिशयोक्तिरित्यर्थालकारो वृत्त्यनुप्रःसश्च तैरन्योन्य ससृज्यते। पुष्पितागा वृत्तम्। 'अयुजिन्युगरेफतो यकारोयुजि च नजौ जरगाश्च पुष्पितागा' इति लक्षणात्॥

व्याकरण—अरिवधोदयात्—अरेः वध. अरिवधः (ष० तत्पु०) स एव उदयः अरि··घोदयः (कर्मधा०), तस्मात्॥ उद्रूढद्रढिम—उदूढः (उद्+वह+क्त कर्मणि) द्रढिमा (दृढ+इमनिच्) येन तत् उदू···ढिम (ब० व्रो)॥ पुरन्दरस्य—पुरः शत्रुपुराणि दारयति इति पुरन्दरः (पुर्+दृ+णिच्+खच् —विशेष सर्वङ्कषा मे।) (उपपद तत्पु०)॥ घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम्—घनः पुलकः ययोस्तौ घनपुलकौ (ब० व्री०), पुलोमजायाः कुचाग्रौ पुलोमजाकुचाग्रौ घनपुलकौ च तौ पुलोमजाकुचाग्रौ घन··चाग्रौ (कर्मधा०)। द्रुतं परिरम्भ (सुप्सुपा)। घन···ग्रयोः द्रुतपरिरम्भः, इति घने घने···रम्भः (ष० तत्पु०) तत्र यत् निपीडनम् घन—पीडनम् (सुप्सुपा), तस्य क्षमत्वम् घन··त्वम् (ष० तत्पु०)॥

कोष—घन—घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निरन्तरे —अमरः

परिरम्भ—परिरम्भः परिष्वङ्ग. सश्लेषउपगूहनम्—अमरः

अलङ्कार—यहाँ हृदय का 'उदूढद्रढिम' विशेषण उसके निपीडनक्षम

होने का हेतु है, अतः पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। फिर हृदय मे निपीडनक्षमता रहने पर भी उसका न होना माना गया है, अतः सम्बन्ध मे असम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अर्थालङ्कार है। और द, ढ, प आदि का वृत्यनुप्रास शब्दालङ्कार भी है। इस प्रकार पूर्वोक्त तीनो अलङ्कारो की संसृष्टि है।" सर्वंङ्कषा।

भावार्थ— शिशुपालवधात् वीतचिन्तो महेन्द्रः स्वस्थमनाः सन् इन्द्राण्या सह सुखम् अनुभवतु ॥

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति।
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति
व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ॥७५॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के कृष्ण-
नारदसम्भाषणं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

अन्वय—तस्मिन् सुरमुना इति वाच व्याहृत्य नभ उत्पतिते पुरः इन्दोः श्रिय बिभ्रति अथ ओम् इति उक्तवतः चैद्यं प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणः वदने व्योम्नि इव अनिशं शत्रूणा विनाशपिशुनः केतुः भ्रुकुटिच्छलेन आस्पदं चकार।

अर्थ—इस प्रकार वचन कहकर आकाश की ओर उठ जाने पर जब देवर्षि नारद ने भगवान् के सम्मुख चन्द्रमा की शोभा धारण की, तब (स्वीकृतिसूचक) 'ओम्' ऐसा कहते हुए तथा शिशुपाल पर क्रुद्ध हुए भगवान् कृष्ण के व्योमसदृश मुखमण्डल पर कुटिल भृकुटि के रूप मे सर्वदा (अर्थात् अनिवार्यरूप से) शत्रु-विनाश की सूचना देने वाले केतु ने स्थान बना लिया।

टिप्पणी—आकाश में केतु या पुच्छल नामक तारे का उदय नृपति-विनाशादि अनर्थं का सूचक होता है। इधर भगवान् के मुखमण्डल पर विद्यमान कुटिल भृकुटि भी शिशुपाल जैसे नृपति के अवश्यम्भावी वध की सूचक है। इसी से कवि ने भगवान् के मुखमण्डल का साम्य आकाश से तथा भृकुटि का केतु से दिया है।

ओमिति ॥ तस्मिन्सुरमुनौ नारदे इति इत्थभूतां वाचव्याहृत्योक्त्वा नभ उत्पतिते समुद्गते पुरोऽग्रे इन्दोः श्रियं बिभ्रति सति। अथ मुनिवाक्यानन्तरमोमित्युक्तवतस्तथास्त्विवङ्गीकृतवतः। 'ओम्प्रश्नेऽङ्गीकृतौ रोषे' इति विश्वः। चेदीनां जनपदानामयंचैद्यःशिशुपाल। 'वृद्धेत्कोसलाजादा ञ्यङ् इति ञ्यङ्प्रत्ययः। तं प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणोवदनेव्योम्नीवानिश सर्वदा। अव्यभिचारेणेत्यर्थः। शत्रूणां विनाशस्य पिशुनः सूचकः। 'चन्द्रमभ्युत्थितः केतुः क्षितीशानां विनाशकृत्'इति शास्त्रादिति भावः। केतुरुत्पातविशेषः। 'केतुर्द्युतौ पताकायां महोत्पातारिलक्ष्मसु' इत्यमरः भ्रुकुटिच्छलेन भ्रूभङ्गव्याजेनास्पदं प्रतिष्ठां स्थिति चकार। "आस्पद प्रतिष्ठायाम् इति निपातनात्सुडागमः। अनेन वाक्यार्थभूतस्य वीररससहकारिणो रौद्रस्य स्थायी क्रोध स्वानुभावेन भ्रुकुट्या कारणभूतोऽनुमेय इत्युक्तम्। तथा तदविनाभूतस्याङ्गिनो वीरस्य स्थायी प्रयत्नोपनेय उत्साहोऽप्युत्पन्न एवेत्यनुसधेयम्। इन्दोः श्रिय बिभ्रतीःयत्र मुनेरिन्दु श्रियोऽयोगात्तत्सदृशीमिति सादृश्याक्षेपादसभव्द्वस्तुसबन्धरूपो निदर्शनालंकारः वदने व्योम्नीवेत्युपमा। भ्रुकुटिच्छलेन केतुरिति छलादिशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवः। तत्र शत्रुविनाशसूचके त्वपेक्षितेन्दुसान्निध्योमावस्थानसपादकत्वे निदर्शनोपमयोरपह्नवोपकारसत्वादङ्गाङ्गिभावेन सकरः। चमत्कारकारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु श्रीशब्दप्रयोगः। यथाह

पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय तथा पितामह का नाम सुप्रभदेव दिया है। इनके पितामह सुप्रभदेव वर्मल [वर्मलात] नामक महाराज के महामन्त्री थे। इसके अतिरिक्त कवि ने अपने विषय मे कुछ भी नही कहा है। भोजप्रबन्ध मे प्राप्त 'माघ का अपनी पत्नी को धाराधीश भोज के दरबार मे एक श्लोक के साथ भेजना' आदि उल्लेख के आधार पर माघ को भोज का समकालीन बताना तो अनर्गल सा ही लगता है, क्योकि भोज के शताब्दियो पूर्व के कवियो ने भी माघ के नाम तथा काव्य का उल्लेख किया है। यो तो नवम शताब्दी के मध्य मे होने वाले आनन्द-वर्धन ने भी अपने 'ध्वन्यालोक' मे शिशुपालवध के उद्धरण दिए है और इस प्रकार माघ इनके पूर्ववर्ती सिद्ध होते है, परन्तु माघ के काव्य का उल्लेख करने वाले सब से प्राचीन आचार्य वामन है, जिन्होने अपने 'काव्यालकार सूत्रवृत्ति'[५] मे शिशुपालवध से कई उदाहरण दिए है। वामन का समय आठवी शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है, अतः माघ इनके भी पूर्ववर्ती ठहरते है। फिर, माघ के पितामह के आश्रयदाता नरेश वर्मलात का एक शिलालेख भी ६२५ ई० का मिलता है, इससे माघ का समय ६२५ई० के कम से कम पचीस-तीस वर्ष बाद अर्थात् सातवी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त माघ के काव्य पर भारवि की स्पष्ट छाप दिखाई पडती है, और भारवि का समय ६३४ ई० के ऐहोल शिलालेख के आधार पर छठी शताब्दी का उत्तरार्ध या अन्तिम पाद जान पडता है। इस प्रकार माघ, इनके बाद के होने से सातवी के ठहरेंगे। परन्तु सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे होने वाले बाण ने अपने 'हर्षचरित' के आरम्भ मे भास, कालिदास आदि के साथ माघ का उल्लेख नही किया है। इससे यह स्पष्ट है कि माघ बाण के अनन्तर अर्थात् सातवी के उत्तरार्ध में हुये होंगे।

४—द्रष्टव्य ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० ११४, ११५ (नि० सा० प्रेस प्रकाशन, १६११ ई०) पर उद्धृत माघ के ५।२६ तथा ३।५३।

५—द्रष्टव्य काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४।३।१० मे उद्धृत ३।८ तथा ५।२।८ मे उद्धत १।२५ श्लोक।

अब तक बहिरङ्ग प्रमाणो के आधार पर ही माघ का समय निश्चित किया गया है। पर अब देखना यह है कि अन्तरङ्ग प्रमाण भी कोई ऐसा मिल सकता है जिससे माघ का समय निश्चित किया जा सके। शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग मे कवि ने राजविद्या की समता शब्दविद्या से करते हुये लिखा है—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।

शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ शि० व० २।११२

इस श्लोक मे कवि ने दो व्याकरण ग्रन्थो का स्पष्ट उल्लेख किया है (१) काशिकावृत्ति, और (२) न्यास। काशिकावृत्ति की रचना जयादित्य और वामन ने ६५० ई० मे की थी। अतः माघ का समय इसके बाद ही माना जा सकता है। "किन्तु उक्त श्लाक मे न्यास शब्द से किस ग्रन्थ-विशेष की ओर सकेत है, इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। पाठक[६] महोदय का कहना है कि उक्त न्यास से अभिप्राय काशिकावृत्ति की जिनेन्द्रबुद्धि-रचित 'न्यास' नामक टीका है, जिसकी रचना लगभग ७०० ई० मे हुई। उनके मतानुसार माघ का समय इस आधार पर ७५० ई० के आसपास सिद्ध होता है। पर यह कहना उचित नही कि माघ ने उक्त श्लोक मे जिनेन्द्रबुद्धि के ही न्यास की ओर सकेत किया है। जिनेन्द्रबुद्धि के पहले भी एक न्यास नामक ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी। काणे महोदय[७] ने दिखाया है कि बाण (६२० ई०) ने अपने 'हर्षचरित' मे न्यास का उल्लेख किया है [कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि]। सम्भव है बाण के समान माघ ने भी इसी 'न्यास' की ओर सकेत किया हो, न कि जिनेन्द्र-

---

६—इण्डियन एण्टीक्वेरी १९१२ ई०, पृ० २३५, तथा जे०बी०आर० ए० एस० १३वाँ भाग, पृ० १८।

७—अलङ्कार शास्त्र का इतिहास, पृ० २६।

बुद्धि के 'न्यास' की ओर। अतः माघ का समय जिनेन्द्रबुद्धि के पीछे नहीं माना जा सकता और सम्भवतः वे सातवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे ही हुए थे।"[८]

माघ के जीवन के विषय मे किवदन्ती के सिवा अन्य कोई प्रमाणित विवरण नही मिलता। 'शिशुपालवध' की गणना सस्कृत साहित्य की बृहत्त्रयी मे है। माघ ने काव्य-कथानक तो महाभारत [सभापर्व, अध्याय ३६-४५] से लिया है, किन्तु अपनी प्रतिभा तथा भारवि की शैली के अनुकरण द्वारा उसका रूप नितान्त नवीन कर दिया है। महाभारत में युधिष्ठिर के राजसूय मे भीष्म द्वारा कृष्ण की अग्रपूजा का प्रस्ताव, शिशुपाल द्वारा उस प्रस्ताव का विरोध तथा सभा छोड कर उठ जाना, कलह मे शिशुपाल का भीष्म को दुर्वचन कहना तथा कृष्ण को अनेक गालियाँ देना, कृष्ण का शिशुपाल की माता को दिये गये अपने वरदान के कारण शिशुपाल के सौ अपराधो को क्षमा[९] करते जाना, फिर प्रतिज्ञा पूर्ण हुई जान कर चक्र से शिशुपाल के सिर को काट डालना[१०] इत्यादि प्रकार से कथा वर्णित है। किन्तु माघ ने इस कथानक मे बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया है। प्रथम सर्ग मे ही नारद का शिशुपालवध के लिये इन्द्र का सन्देश लेकर द्वारका मे वसुदेव के घर आना माघ की अपनी कल्पना है। फिर बलराम तथा उद्धव के साथ कृष्ण की मन्त्रणा, द्वारका-वर्णन, कृष्ण का इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान, मार्ग मे रैवतकवर्णन, जलक्रीडावर्णन, षड्ऋतुवर्णन, सन्ध्या-रजनी-प्रभातवर्णन, फिर शिशुपाल द्वारा दूत-प्रेषण, दूत-वचन, चित्र-बन्ध द्वारा युद्ध-वर्णन आदि माघ की अपनी कल्पना है।

८—सस्कृत साहित्य को रूपरेखा, तृ० सस्करण पृ० ७२-७३।

९—शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत्क्षमितं मया।
अपराधशत क्षाम्य मातुरस्यैव याचने॥म०भा०,सभा० प०४५।२३॥

१०—एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात्।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः॥ वही ४५।२५॥

यदि प्रबन्ध-कल्पना की दृष्टि से देखा जाय तो माघ ने महाभारत के कथानक में जो परिवर्तन किये है उनमे से अधिकाश काव्य-कथानक के लिए अनुपयुक्त ही है। चतुर्थ सर्ग से द्वादश सर्ग तक का भाग तो ऐसा प्रतीत होता है मानों अनेक खंडकाव्यो का संग्रह हो, वहाँ प्रबन्ध-कथानक की गन्ध तक नही मिलती। कहाँ तो कृष्ण यदुसेना के साथ युधिष्ठिर के राजसूय मे भाग लेने जा रहे है जहाँ शिशुपाल का वध मुख्य लक्ष्य है, और कहाँ रास्ते मे उनके सैनिक सुन्दरियो के साथ क्रीडायें करते हैं, छहो ऋतुओ का आनन्द लेते हैं एव पुष्पावचय, जलक्रीडा, पानगोष्ठी आदि करते है ? ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है मानो कवि ने अपनी कला के प्रदर्शन के लिए बलात् इन प्रसङ्गो को काव्य मे ठूसा है।

माघ मे पाण्डित्य के साथ उच्च कोटि की काव्यशक्ति तथा प्रबन्धपटुता भी अवश्य थी। प्रबन्ध-सौष्ठव के लिए क्या-क्या अपेक्षित होता है, यह वे पूर्ण रूप से जानते थे। उन्होने स्वयं कहा है—"बह्वपि स्वेच्छया काम प्रकीर्णमभिधीयते। अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः"—शि० व० २।७३। वे यह भी जानते थे कि काव्य मे शब्द (ध्वनि) तथा अर्थ का क्या सम्बन्ध तथा कितना महत्त्व होता है—शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वय विद्वानपेक्षते—(शि० व० २।८६)। अब प्रश्न यह उठता है कि इतना प्रबन्धपटु होते हुये भी माघ ने शिशुपालवध मे इतने व्यर्थ अनेक प्रसग क्यो रक्खे ? इसका एक ही उत्तर है कि माघ ने अपने पूर्ववर्ती कवि भारवि का इतनी स्पर्द्धा के साथ अनुकरण किया कि उसमे उन्होंने बहुत-कुछ अपनी मौलिक प्रतिभा ही विनष्ट कर दी। भारवि के ही मार्ग पर चल कर माघ उन्हे उन-उन रचनाओ मे अपने से हेठा दिखाना चाहते थे। इस स्पर्द्धापूर्वक अनुकरण से माघ का काव्य उपर्युक्त ऋतुवर्णन, केलि, पानगोष्ठी इत्यादि प्रसगो मे भारवि के काव्य से भले अच्छा अवश्य हो परन्तु ये प्रसग बलात् आरोपित किए गए अतश्च अनुपयुक्त ही लगते है। भारवि के काव्य मे तो ये किसी प्रकार उचित हो भी सकते थे, क्योकि वहाँ यात्रा करने वाला एक ही व्यक्ति (अर्जुन) है, जिस तपस्या के लिए वह जा रहा है उसका शीघ्र आरम्भ होना यद्यपि आवश्यक है, तथापि उसकी कोई तिथि निश्चित नही है, अतएव आकर्षक एव मनोहारी पर्वतीय दृश्यो मे से होकर जाता हुआ यात्री मानवसुलभ सौन्दर्य-प्रेम के कारण यदि

कुछ काल के लिये उनमे रम जाता है और थोड़े बिलम्ब से गन्तव्य पर पहुँच कर तपस्या आरम्भ करता है तो बहुत तो क्या, शायद थोडा भी अनुचित न हो परन्तु यहाँ तो राजसूय की तिथि निश्चित है और उसी मे आने वाले शिशुपाल का वध होना है, फिर भी इतनी आश्चर्यजनक निश्चिन्तता से और एक दो व्यक्ति नही अपितु समूची सेना की सेना आनन्द-सुख मे ऐसी निरत है, जैसे पूर्व से यही कार्यक्रम नियत रहा हो, राजसूय मे भाग लेना नही।

माघ के काव्य मे यह अनौचित्य उनके अन्धानुकरण के कारण ही आया। यदि माघ ने अपनी काव्य- शक्ति का मौलिक भावो को रखने मे उपयोग किया होता तो सम्भवतः सस्कृत भाषा एव साहित्य और भी धन्य हो गये होते। यद्यपि यह अनुकरणरूपी कलंक उनकी प्रतिभा रूपी चन्द्रिका के वैशद्य एवं आह्लादकारित्व को किसी भी प्रकार कम नही कर सका है, पर है तो कलङ्क ही। अस्तु।

अब देखना है कि माघ ने भारवि का कहाँ क्या अनुकरण किया है। स्व० पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय के शब्दो मे "माघ का आदर्श भारविकृत किरातार्जुनीय था, यह बात दोनों ग्रन्थों की पारस्परिक तुलना करने से स्पष्ट विदित हो जाती है—

(१) दोनो महाकाव्यो की मुख्य कथा महाभारत से ली गई है। (२) दोनो ग्रन्थो का आरम्भ 'श्री' शब्द से होता है, किरात के आरम्भ मे 'श्रियः कुरूणा-मधिपस्य पालिनीम्' है, तो माघ के प्रारम्भ मे 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है। (३) दोनो के प्रथम सर्ग में सन्देशकथन है, किरात मे वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर के प्रति और माघ में नारद के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति (४) किरात के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर भीम और द्रौपदी के बीच राजनीति-विषयक संवाद होता है तो शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग मे बलराम, श्रीकृष्ण और उद्धव के बीच इसी विषय पर परामर्श होता है। (५) किरात में महर्षि वेदव्यास पाण्डवों को मार्ग सुझाते है तो माघ में देवर्षि नारद ऐसा ही करते है (६) किरात में

अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिये जाते है तो माघ मे श्रीकृष्ण रैवतक पर्वत के समीप ठहरते है (७) किरात मे यदि हिमालय का यमकालकारों के द्वारा वर्णन हुआ है तो माघ मे इसी प्रकार रैवतक का वर्णन है। (८) दोनो मे अप्सराओ के विहार का चारु चित्रण है। (९) किरात मे किरातवेशधारी शिव अर्जुन का अपमान करने के लिये दूत भेजते है तो माघ मे शिशुपाल श्रीकृष्ण का अनादर करने के लिये दूत भेजता है। (१०) किरात के १३वें तथा १४वें सर्ग मे अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव मे वाद-विवाद हुआ है तो माघ मे १६वें सर्ग मे ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत और सात्यकि मे हुआ है। (११) किरात के पन्द्रहवें तथा माघ के १९वे सर्ग मे चित्रबन्धो द्वारा युद्धवर्णन है। (१२) दोनो मे सन्ध्याकाल, रात्रि, चन्द्रोदय, ऋतुओ एव यात्रा का यथास्थान वर्णन हुआ है। (१३) भारवि ने किरात मे प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य मे लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है तो माघ ने इसी प्रकार अपने काव्य के सर्गान्त पद्यो मे 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है। (१४) दोनो के वर्णन-क्रम मे भी समानता है। (१५) दोनों काव्यो मे द्वन्द्व-युद्ध के पूर्व विपक्षियो की सेनाओ मे सघर्ष होता है।" इन पूर्वोक्त प्रसगो के अतिरिक्त कही-कही माघ के श्लोको के भाव भी किरातार्जुनीय से मिलते हैं, पर वे किरात की कोरी नकल नही है, जैसे नारद के आने पर कृष्ण अपने हार्दिक आनन्द को व्यक्त करते हुए कहते है—"हरत्यघ सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः। शरीरभाजा भवदीयदर्शन व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ शि० व० १/२६। कुछ इसी प्रकार के भाव व्यास के आने पर युधिष्ठर ने किरातार्जुनीय' मे व्यक्त किये है:—

"अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री। तुल्या भवद्दर्शनसम्पदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः ॥ कि० ३।५। फिर आगे कृष्ण माघ मे अति नम्र भाव से देवर्षि नारद से कहते है:—"विलोकनेनैव तवामुना मुने कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा। तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥ शि० व० १/२९। इस श्लोक पर किरात के निम्नाङ्कित श्लोक की स्पष्ट छाया झलकती है, जिसमें युधिष्ठिर व्यास जी से इसी प्रकार से अपने हृदय के भावों को व्यक्त करते हुए कहते है:—

निरास्पद प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीन किमु निःस्पृहाणाम् । तथापि कल्याणकरीं गिर ते मा श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ।। कि०५/६

भारवि के अतिरिक्त माघ पर कालिदास का भी प्रभाव कहीं-कहीं परिलक्षित होता है। माघ मे नारद द्वारा कृष्ण के सम्मुख रावण के प्रताप आदि के वर्णन मे कुमार मे बृहस्पति द्वारा वर्णित तारक के प्रताप की बहुत-कुछ झलक दिखाई पडती है।* परन्तु यहाँ भी भावो की दिशा ही समान है, स्वयं भाव तथा उन्हे प्रकट करने वाले शब्द एव अर्थ कदापि एक नहीं कहे जा सकते। इसका कारण यह है कि माघ मे अपने पूर्ववर्ती महान् काव्यसाधकों के उत्कृष्ट काव्यतत्त्वो को अपनाने की सुरुचि तो थी, साधारण तुक्कणों की भाँति सस्ती नकल की प्रवृत्ति नही थी। उनमे उच्चकोटि की काव्य-शक्ति और सहृदयता थी। नारद जी के आगमन का प्रयोजन भगवान् कृष्ण द्वारा जिस वाक्चातुरी एव शिष्टता के साथ माघ ने पुछवाया है, वह सहृदय एवं काव्यकुशल कवि का ही काम है:—गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजन वदेति वक्तु व्यवसीयते यया। तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ।। शि० व० १/३० ।। रैवतक पर्वत का बडा ही मनोहारी वर्णन कवि ने किया है। यमक तथा अनुप्रासो का आश्रय लेते हुए वहाँ छहो ऋतुओ का जो मनोहारी वर्णन कवि ने किया है, वह सस्कृत-काव्य-साहित्य की अनुपम निधि है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा —नवपलाशपलाशवन पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्। मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ।।६। २।। प्रभात के वर्णन मे तो कवि की उत्कृष्ट कल्पना ने बडी ऊँची उडान ली है। प्राची-सन्ध्या की कन्या से उपमा देने के लिए उसने प्रातःकाल के सुन्दर दृश्यो का कन्या के कमल कोमल अंगो के साथ जो रूपक बाँधा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है :—अरुण-जलजराजी मुग्धहस्ताग्रपादा, बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी। अनुपतति विरावैः पत्रिणा व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्व-सन्ध्या सुतेव ।।११।४०।। इसी प्रकार

*उदाहरणार्थ शिशुपालवध १/५६ तथा कुमारसम्भव २/२१, शि० व० १/५८ तथा कुमार २/३३, एव शि० व० १/६६ तथा कुमार २/३३ द्रष्टव्य हैं।

उदय होते हुए सूर्य का उदयगिरि के प्रशस्त प्राङ्गण मे खेलते हुए हँसमुख बालक के साथ बाधा गया रूपक चिरस्मरणीय रहेगा—उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन् सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः । विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः, परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥११।४७॥ राजसूय के अवसर पर सजी इन्द्रप्रस्थ नगरी की रमणियो की विभिन्न शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन बडा ही मनोमुग्धकारी हैः—विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये । मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥१३।४०॥ उपर्युक्त श्लोको मे रिङ्गन्-रेंगते हुए—(घुटने के बल चलते हुए) तथा मदविभ्रमासकलया (मदविलास से तिरछे कटाक्ष करती हुई) पदो का साहित्यिक सौन्दर्य ध्यान देने योग्य है । बाद वाले श्लोक मे 'अधिक' अलङ्कार का कैसा स्वाभाविक और साहित्यिक प्रयोग हुआ है ? इतने से ही माघ की काव्य-शक्ति का प्रभूत परिचय प्राप्त हो जाता है ।

माघ में काव्यशक्ति के साथ पूर्ण एव प्रकाण्ड पण्डित्य भी था । व्याकरण शास्त्र के गूढ रहस्यो के वे पण्डित थे । उदाहरणार्थ परोक्षभूत मे प्रयुक्त लोट् लकार का चमत्कार देखिएः—पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दन मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः । विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥ १ । ५१ ॥ देवर्षि नारद द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की वन्दना कराते समय कवि ने बडी चातुरी से समस्त दर्शनो के अन्तिम निष्कर्ष को काव्य-पदावली मे बाँधा हैः—उदीर्णरागप्रतिरोधक जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयातिदुर्गमम् । उपेयुषो मोक्षपथ मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसश्रया ॥ १ । ३२ ॥

इसी प्रकार उनकी सङ्गीत शास्त्र की विशेषज्ञता का परिचय इस श्लोक से मिलता है—

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महती मुहुर्मुहुः ॥ शि० व० १ । १०

पूरे द्वितीय सर्ग मे उन्होने अपने राजनीति-विषयक उत्कृष्टज्ञान का परिचय दिया है । उदाहरणार्थ, षड्गुण, शक्तित्रय आदि के त्रिवर्ग का किस कौशल से एक

अनुष्टुभ् में उल्लेख करते है—षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः। ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमितिदुर्मेधसोऽप्यलम् ।। शि० व० २।२६।।

माघ मे दर्शनशास्त्र-विषयक पाण्डित्य भी पूर्ण दिखाई पडता है। बौद्ध दर्शन के आत्म-विषयक सिद्धान्त का वे किस प्रकार उद्धरण करते है—सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम् । सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ।। शि०व० २।२८

सम्पूर्ण योगशास्त्र का सविधि उल्लेख किस कौशल से कवि करता है:—मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो, विधाय क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः। ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ।। शि० व० ४।५५

कवि होने के साथ माघ काव्यशास्त्र के भी आचार्य थे । बडे कौशल के साथ वे रस के सचारी भावो का उल्लेख करते हैं—

"स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते, भावाः सञ्चारिणो यथा ।

रसस्यैकस्य भूयासस्तथा नेतुर्महीभृतः ।। शि० व० २।८७।।

इस प्रकार माघ-काव्य शक्ति और पाण्डित्य दोनो ही दृष्टियो से बहुत उत्कृष्ट है । वास्तव मे सस्कृत-काव्य-साहित्य उनकी इस अनुपम कृति से धन्य हो गया है । छहों ऋतुओ का क्रमशः आगमन न दिखा कर जो एक साथ दिखाने का दोष अङ्गीकार किया है, वह भगवान् के सेवार्थ होने से क्षम्य है । कवि ने स्वय तुलसीदास की ('एहि महँ रघुपति नाम उदारा' इत्यादि वचन की) भांति अन्तिम श्लोक मे इस काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमत्र चारु' कहा है । शिशुपाल-वध का कवि भारवि का अनुगामी हो कर भी उसके शैवत्व को स्वीकार न करके वैष्णव ही रहा है और इसी के अनुकूल लक्ष्मीपति विष्णु का चरित-कीर्तन होने मे उसने अपने काव्य की सार्थकता मानी है ।

प्रथमः सर्गः ।

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दार वन्देऽहं यदुनन्दनम् ।
दन्ताञ्चलेन धरणीतलमुन्नमय्य पातालकेलिषु धृतादिवराहलीलम् ।
उल्लाघनोत्फणफणाधरगीयमानक्रीडावदानमिभराजमुखं नमामः ।।
शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे ।
सर्वदा सर्वदास्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ।।
वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ।।
मल्लिनाथः सुधीः सोऽयं महोपाध्यायशब्दभाक् ।
विधत्ते माघकाव्यस्य व्याख्यां सर्वंकषाभिधाम् ।।
ये शब्दार्थपरीक्षणप्रणयिनो ये वा गुणालंक्रिया-
शिक्षाकौतुकिनो विहर्तुमनसो ये च ध्वनेरध्वनि ।
क्षुभ्यद्भावतरङ्गिते रससुधापूरे निमङ्क्षन्ति ये
तेषामेव कृते करोमि विवृतिं माघस्य सर्वंकषाम् ।।
नेतास्मिन्यदुनन्दनः स भगवान्वीरः प्रधानो रसः
शृङ्गारादिभिरङ्गवान्विजयते पूर्णा पुनर्वर्णना ।
इन्द्रप्रस्थगमाद्युपायविषयश्चैद्यावसादः फलं
धन्यो माघकविर्वयं तु कृतिनस्तत्सूक्तिसंसेवनात् ।।
इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते ।।

अथ तत्रभवान्माघकविः 'काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासमिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालकारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनता, 'काव्यालापाश्च वर्जयेत्' इति निषेधस्यासत्काव्यविषयता च पश्यन् शिशुपालवधाख्य काव्य चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वात् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इत्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च काव्यफलशिशुपालवधवीजभूत भगवतः श्रीकृष्णस्य नारददर्शनरूप वस्तु आदौ श्रीशब्दप्रयोगपूर्वकं निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितु जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुव मुनि हरिः ॥१॥

अन्वयः—

श्रियः पतिः, जगन्निवासो, जगत् शासितु श्रीमति वसुदेवसद्मनि वसन् हरिः अबरात् अवतरन्त हिरण्यगर्भाङ्गभुव मुनि ददर्श ॥

अर्थः—

लक्ष्मी (रुक्मिणी) के पति, जगत् के आधारभूत, जगत का नियन्त्रण करने के लिये वसुदेव के श्रीसम्पन्न गृह में (श्रीकृष्णरूप मे) निवास करते हुये भगवान् विष्णु ने (एक बार) आकाश से उतरते हुये ब्रह्मपुत्र नारद मुनि को देखा ।

सर्वङ्कषा—

श्रिय इति ॥ तत्रादौ श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिशुद्धेरभ्युच्चयः । तदुक्तम्— 'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥' इति । श्रियो लक्ष्म्याः पतिः । अनेन रुक्मिणीरूपया श्रिया समेत इति सूचितम् । 'राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति विष्णुपुराणात् । जगन्निवासो जगतामाधारभूतः । कुक्षिस्थाखिलभुवन इति यावत् ।तथापि

जगत् लोक शासितु दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहाभ्या नियन्तु श्रीमति लक्ष्मीयुक्ते वसुदेवसद्मनि वसुदेवरूपिणः कश्यपस्य वेश्मनि वसन्कृष्णरूपेण तिष्ठन् हरिर्विष्णुर-म्बरादवतरन्तमायान्तम् । इन्द्रसदेशकथनार्थमिति भावः । हिरण्यस्य गर्भो हिरण्य-गर्भो ब्रह्मा । ब्रह्माण्ड प्रभवत्वात् । तस्याङ्गभुव तनूजम् । अथवा तस्याङ्गादवयवा-दुत्सङ्गाख्याद्भवतीति हिरण्यगर्भाङ्गभूस्त मुनिम् । नारदमित्यर्थः । 'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयभुवः': इति भागवतात् । ददर्श कदाचिदिति शेषः । अत्रा-ल्पीयसि वसुदेवसद्मनि सकलजगदाश्रयतया महीयसो हरेराधेयत्वकथनादधिकप्रभेदो-ऽर्थालकारः । तदुक्तम् – 'आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मत इति । जगन्नि-वासस्य जगदेकदेशनिवासित्वमिति विरोधश्च । तथा तकारसकारादेः केवलस्यासकृदा-वृत्त्या जगज्जगदिति सकृद्व्यञ्जनद्वयसादृश्याच्च वृत्त्यनुप्रासभेदौ शब्दालकारौ । एषा चान्योन्यनैरपेक्ष्येणैकत्र समावेशात्तिलतण्डुलवत्ससृष्टिः । सर्गेऽस्मिन्वशस्थ-वृत्तम् । 'जतौ तु वशस्थमुदीरित जरौ' इति लक्षणात् ।

व्याकरण—

श्रियः—श्रयति हरिम् इति श्रीः (श्रिञ् + क्विप् कर्तरि), तस्याः ।

श्रीमति—श्रीरस्त्यस्मिन्निति श्रीमत्(श्री + मतुप्), तस्मिन् ।

शासितुम्—शासु + तुमुन् (अव्यय–'कृन्मेजन्त.' इस नियम से मान्त तथा एजन्त कृदन्त अव्यय होते हैं ।)

जगत्–गच्छतीति जगत् (गम्लृ + क्विप् कर्तरि) । शासितुम् का कर्म ।

जगन्निवासः—निवसत्यस्मिन्निति (नि + वस् + घञ् अधिकरणे) निवासः । जगता निवासः जग०, षष्ठी तत्पुरुष ।

वसुदेवसद्मनि—वसुदेवस्य सद्म (ष० तत्पु०), तस्मिन्

वसन्—वस + शतृ (पु०)

ददर्श—दृशिर् + लिट् (प्रथमपुरुष एकवचन)

अवतरन्तम्—अव + तृ + शतृ (पु०) अवतरन्, तम्

हिरण्यगर्भाङ्गभुवम्—हिरण्यस्य (हिरण्मयाण्डस्य) गर्भः इति हिरण्य-

गर्भः = ष० तत्पु० । तस्य अङ्गम् = ष० तत्पु० । तस्मात् भवतीति हिरण्य-गर्भाङ्गभूः, उपपदसमासः । भूधातो कर्तरि क्विप् प्रत्यय. । अथवा, अङ्गाद्भवतीति अङ्गभूः, हिरण्यगर्भस्य अङ्गभूः, तम् = ष० तत्पु० ।

हरिः – हरति (पापम्) इति, हृञ् + इ (कर्तरि)

कोष :—

श्रीः—"अथ सपदि । सपत्ति. श्रीश्चलक्ष्मीश्च" इत्यमर. । तथा "श्रीर्वेष-रचना शोभाभारतीसरलद्रुमे । लक्ष्म्या त्रिवर्गसपत्ती वेषोपकरणे मत ।"

(इति विश्वमेदिन्यौ)

हिरण्यगर्भ—

हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयभूश्चतुराननः इत्यमर.

अलंकार—

(१) यहाँ 'जगन्निवास' (महान् आधेय) का वसुदेवसद्म (लघुआधार मे) निवास करना कहा गया है, अत. अधिकनामक अर्थालङ्कार है—"आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्यंऽधिकमुच्यते" सा० दर्प० ।

(२) जो जगन्निवास है, उसका वसुदेवसद्मरूप जगत के एक अतिस्वल्प भाग मे निवास कथन किए जाने से यहाँ विरोध नामक अर्थालङ्कार भी है—"विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः"—(का० प्र०)

३—तकार मकार की पृथक् २ कई बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास तथा 'जगज्जगत्' मे ज, ग इन दो वर्णों की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास नामक शब्दालङ्कार है ।

४— यहाँ पूर्वोक्त अलङ्कारों का अन्योन्य-निरपेक्ष भाव से तिल-तण्डुल की

भाति एकत्र समावेश हुआ। अतः इसे अलङ्कारसंसृष्टि कहा जायगा "मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते" (सा० द०) अथवा—"एषा तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः—(अलङ्कारसर्वस्व)

भावार्थ—दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहाभ्यां जगन्नियन्तुं नारायणः कृष्णरूपेण वसुदेवगृहेऽवतीर्णवान्। तत्र चैकदा स हरिरिन्द्रसन्देशकथनार्थमाकाशमार्गेणायान्तं विरिञ्चिपुत्रं देवर्षिं नारदमपश्यत्। तदानीं जनैर्विस्मयादीक्षितुं प्रवृत्तमित्याह—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥२॥

अन्वय—

अनूरुसारथेः गतं तिरश्चीनम्, हविर्भुजः ऊर्ध्वज्वलनं प्रसिद्धम्, सर्वतः विसारि (एतद्) धाम अधः पतति। एतत् किम् इति आकुलं जनैः ईक्षितम्।

अर्थ—

सूर्य की गति तिरछी होती है, अग्नि की ऊर्ध्वगति प्रसिद्ध है, चारों ओर फैलता हुआ (यह) तेज नीचे आ रहा है। 'यह क्या है'—इस प्रकार विस्मय से भरे हुए लोगों ने (उन्हें) देखा।

सर्वङ्कषा—अविद्यमानावूरू यस्य सोऽनूरुः स सारथिर्यस्य तस्यानूरुसारथेः सूर्यस्य गतं गतिः। भावे क्तः। तिरश्चीनं तिर्यग्भूतम् 'विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्' इति तिर्यक्शब्दादञ्चत्यन्तात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे खप्रत्ययः। हविर्भुजोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनमूर्ध्वस्फुरणं प्रसिद्धम्। इदं तु सर्वतोविसारि धामाधः पतति। किमेतदिति सूर्याग्निविलक्षणमदृष्टपूर्वमिदं धाम किमात्मकं स्यादित्याकुलं विस्मयात् सम्भ्रान्तं यथा तथा जनैरीक्षितमीक्षणं कृतम् सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि भावे क्तः 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात्। केचित्कर्मणि क्तान्तं कृत्वा ईक्षितं मुनिं ददर्शेति पूर्वेण योजयन्ति। अत्रोपमेयस्य मुनिधाम्नः सूर्याग्नि-

भ्यामुपमानाभ्यामधःप्रसरणधर्मेणाधिक्यवर्णनाव्द्यतिरेकः । तदुक्त काव्यप्रकाशे—'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' इति । 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हेमचन्द्रः । दिवाकरस्तु वृत्तरत्नाकरटीकायां प्रथमपठितेन द्विधाकृतात्मा किमयं दिवाकरो विधूमरोचिः किमय हुताशनः' इति चरणद्वयेन सहेममेव श्लोक षट्पदच्छन्दस उदाहरणमाह । तत्राद्यचरणद्वयेन सदेहालकारो गतमिति तन्निरासश्च बोध्य इत्युपरिष्टात् ॥

व्याकरण—

अनूरुसारथेः—अविद्यामानावूरू यस्य सः अनूरुः (अरुणः) ब० व्री० (नञोऽस्त्यर्थाना वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः इति वार्तिकात्), स सारथिर्यस्य (ब० व्री०), तस्य ।

गतम्—गम्+क्त (भावे)

तिरश्चीनम्—तिरः अञ्चति इति तिर्यक् = तिरस् (तिरि) अञ्च+क्विन् (कर्तरि) । तिर्यक् एव तिरश्चीनम् = तिर्यक् + ख (स्वार्थे) ।

हविर्भुजः=हविः भुङ्क्ते इति (हविर्+भुज्+क्विप् कर्तरि) हविर्भुक् (उपपदतत्पु०), तस्य ।

ऊर्ध्वज्वलनम्=ज्वल्+ल्युट् (भावे) ज्वलनम्, ऊर्ध्वे ज्वलनम् (सुप् सुपा) ।

विसारि=वि+सृ+णिनिः (ताच्छील्ये) ।

ईक्षितम्=ईक्ष+क्त (भावे) । यद्यपि ईक्ष धातु सकर्मक है किन्तु यहाँ कर्म को अविवक्षा होने से उसे अकर्मक-रूप मान कर भाव मे क्त प्रत्यय किया गया है—"प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया" ।

२

कोषः—

अनूरुः—सूर्यसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः इत्यमरः ।
हविर्भुक्— हिरण्यरेता हुतभुग् दहनो हव्यवाहनः इत्यमरः ।
धाम—धाम शक्तौ प्रभावे च तजोमन्दिरजन्मसु इति विश्वः ।

अलंकार—

यहा मुनिधाम उपमेय है, जो सूर्य और अग्नि इन दोनो उपमानो की अपेक्षा अधःप्रसरण रूप धर्म द्वारा अधिक कहा गया है, अतः इसे व्यतिरेक अलंकार कहा जायगा । "उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः" —काव्य-प्रकाश ।

भावार्थ—

जना. आकाशे मुनेरधः प्रसरत्तेजो वीक्ष्य सम्भाव्यमानयोः आदित्याग्न्येय-तेजसो. क्रमशः तिरश्चीनामूर्ध्वां च गतिं स्मरन्तः तत्र द्वयोरेकस्यापि सम्भावना न दृष्ट्वा कस्यैतत्तेजो भवितुं शक्नोतीति सविस्मयं विचारितवन्तः ।

अथ भगवान्निरणैषीदित्याह—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम् ।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ॥ ३ ॥

अन्वय—

विभुः सः पुरा त्विषा चयमिति, ततः विभाविताकृति शरीरीति, (ततश्च) विभक्तावयवं पुमान् इति क्रमात् अवधारितम् अमुं नारद इति अबोधि ।

अर्थ—

सर्वज्ञ उन भगवान् (कृष्ण) ने सर्व प्रथम '(कोई) तेजो राशि है', फिर आकार के कुछ २ (धुंधले रूप से) लक्षित होने पर '(कोई) शरीरधारी है', और फिर अङ्गो के पृथक् २ दिखाई पडने पर 'कोई पुरुष है', इस प्रकार क्रमशः जाने गये उसको 'नारद जी है' यह जाना ।

टिप्पणी—

वस्तुओ के स्पष्ट प्रत्यक्ष का लौकिक क्रम यही है। इसी के अनुरोध से प्रस्तुत श्लोक मे ऐसा वर्णन किया गया है अन्यथा भगवान् तो सर्वज्ञ और अन्तर्यामी होने से सभी समय मे सभी कुछ जानने वाले है।

सर्वङ्कषा—

चय इति। विभुर्वस्तुतत्त्वावधारणसमर्थः स हरिः पुरा प्रथम त्विषा चय इत्यवधारित तेजःपुञ्जमात्रत्वेन विनिश्चितम्। ततः प्रत्यासन्ने विभाविता विमृष्टा आकृतिः संस्थानं यस्य त तथोक्तम्। अतएव शरीरी चेतन इत्यवधारितम्। ततो विभक्ता विविच्य गृहीता अवयवा मुखादयो यस्य त तथोक्तम् अतएव पुमानित्यवधारितम्। अमुमागच्छन्त व्यक्तिविशेष नारद वास्तवाभिप्रायेणेति पु ल्लिङ्गनिर्वाहः। क्रमात्पूर्वोक्तसामान्यविशेषज्ञानक्रमेण। लोकदृष्ट्येदमुक्तम्। हरिस्तु सर्व वेदैवेति तत्त्वम्। नारद इत्यबोधि। नारद बुद्धवानित्यर्थः। नारदस्य कर्मत्वेऽपि निपातशब्देनाभिहितत्वान्न द्वितीया। तिङामुपसख्यानस्योपलक्षणत्वात्। यथाह वामनः—'निपातेनाभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः। परिगणनस्य प्रायिकत्वात्' इति बुध्यतेः कर्तरि लुङ्। 'दीपजन—' इत्यादिना चिण्। 'चिणो लुक्,' इति तस्य लुक्। अत्र विभाविताकृति विभक्तावयवमित्यादिना आकृतिविभावनावयवविभावनयोः पदार्थयोर्विशेषणवृत्त्या शरीरित्वपु स्त्वावधारणहेतुत्वेनोपन्यास ात्पदार्थहेतुकक्काव्यलिङ्गमलकारः। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात्।

व्याकरण—

चयः—चि+अच् (भावे), ।

अवधारितम्—अव+धृ+णिच्+क्त(कर्मणि),तम्।

शरीरी—शरीरम् अस्ति अस्य इति शरीरी (शरीर+इनिः मत्वर्थे)।

विभाविताकृतिम्–विभाविता (वि+भू+णिच्+क्त(कर्मणि) आकृतिर्यस्य सः, तम् (ब० व्री०)।

विभक्तावयवम्—विभक्ता (वि+भज्+क्त कर्मणि) अवयवा अस्य सः; तम् (ब० व्री०)।

अबोधि—बुध+लुङ् (कर्तरि, प्रथमपुरुषैकवचने)=अबुध+चिण्+त= अबुध+चिण्=अबोधि।

कोष—

त्विषाम्—स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः इत्यमरः।

चयः—समुदायः समुदयः समवायश्चयो गणः इत्यमरः।

अलङ्कार—

यहाँ 'विभाविताकृति' विशेषण पदार्थ शरीरी होने तथा 'विभक्तावयव' विशेषण पदार्थ 'पुमान्' होने के ज्ञान का हेतु है, अतः इसमे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है—"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते"—(सा० द०)।

भावार्थ—

हरिः प्रथमं तावत् तं तेजोराशिरित्यवबुद्धवान्, ततः तस्मिन् निकटमागते आकृतिं निरीक्ष्य देहवानित्यवगतवान्, ततोऽपि निकटतरमागते सति अवयवान् विभाव्य पुरुष इत्यवधारितवान्। एवं क्रमेण च तं नारद इति ज्ञातवान्।

अथ सप्तभिर्मुनिं विशिनष्टि—

नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान्समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शंभुना॥ ४॥

अन्वयः

नवान् बृहतः पयोधरान् अधः अधः समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्, (अतएव) क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना भूतिसितेन शम्भुना स्फुटोपमम् (अमुम् नारद इत्यबोधि)।

अर्थः—

नवीन (काले काले) और विस्तृत बादलो के ठीक नीचे (स्थित) एवं कर्पूर-चूर्ण की ढेर की भाँति शुभ्र, अतएव क्षण भर के लिए ताण्डवनृत्य के समय गजराज का (काला) चमडा ओढे हुए एवं भस्म रमाने से श्वेत हुए भगवान् शिव की स्पष्ट समानता करते हुए (उन्हे 'नारद' समझ लिया)।

टिप्पणी:—

प्रस्तुत श्लोक मे नारद की दो बातें वर्णन की गई है—एक तो उनकी शुभ्ररूपता जिसकी उपमा कर्पूरचूर्ण के ढेर से दी गई है और दूसरी काले बादलो के ठीक नीचे उनकी उपस्थिति। इन्ही दोनो बातो के कारण नारद जी की उपमा उन भगवान् शिव से दी गई है जो श्वेत भूति रमाये हुए है और काला हस्तिचर्म ओढे हुए है।

सर्वङ्कषा:—

नवानित्यादिभिः ॥ कीदृशममुम्। नवान्सद्यःसभृतसलिलान्। अतिनीलानिति यावत्। बृहतो विपुलान्पयोधरान्मेघानधोऽधः। मेघानां समीपाधःप्रदेशे स्थितमिति शेषः। 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' इति द्विर्भावः। तद्योगे द्वितीया। 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इत्यादिवचनात्। समूढः पुञ्जीकृतः। 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने' इति विश्वः। कर्पूरस्य परागश्चूर्णं तद्वत्पाण्डुरम्। अतएव क्षणं मेघसमीपावस्थानक्षणे। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। क्षणेषु ताण्डवोत्सवेषु। 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्युभयत्राप्यमरः। उत्क्षिप्ता उपरि धारिता गजेन्द्रस्य कृत्तिश्चर्म येन तेन। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः। भूत्या भस्मना सितेन। 'भूतिर्भस्मनि सपदि' इत्यमरः। शम्भुना स्फुटा उपमा सादृश्यं यस्य तं स्फुटोपमम्। स्फुटशम्भूपममित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। सदृशपर्याययोस्तुलोपमाशब्दयोः 'अतुलोपमाभ्याम्—' इति निषेधात्सादृश्यवाचित्वे तृतीयेत्याहुः। केचिदिमं श्लोकं चयस्त्विषामित्यतः प्राग्लिखित्वा

व्याचक्षते । तेषां पुंस्त्वावधारणात्प्राक् तेजःपिण्डमात्रस्यशंभूपमौचित्यं चिन्त्यम् ।

व्याकरण—

अधोधः—देश अथवा काल सम्बन्धी समीपता के अर्थ मे उपरि अधि तथा अधस् इन तीन अव्ययो को द्वित्व हो जाता है—"उपर्यध्यधसः सामीप्ये" (पा० ८ । १ । ७) फिर इन द्वित्वविशिष्ट शब्दो के योग मे द्वितीया विभक्ति होती है—"उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्य्यादिषु त्रिषु ।" अतएव पयोधरान् मे द्वितीया हुई है ।

पयोधरान्—धरन्तीति (धृ+अच् कर्तरि) धराः, पयसा धराः पयोधराः (ष० तत्पु०), तान् ।

समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्—कर्पूरस्य परागाः (ष० तत्पु०), समूढाः (सम्+वह+क्त कर्मणि) कर्पूरपरागाः (कर्म० तत्पु०), त इव पाण्डुरः (उपमानपूर्वपद कर्म०), तम् ।

क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना—गजेन्द्रस्य कृत्तिः (ष० तत्पु०), क्षणेषु उत्क्षिप्ता (उद्+क्षिप्+क्त कर्मणि) गजेन्द्रकृत्तिः येन सः (ब० व्री०)

स्फुटोपमम्—स्फुटा उपमा यस्य (ब० व्री०), तम् ।

भूतिसितेन—भूतिभिः सितः (तृ० तत्पु०), तेन ।

कोषः—

पाण्डुरः—हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः इत्यमरः । पीतसंवलित शुक्ल वर्ण को पाण्डुर कहा जाता है किन्तु कपूर का रङ्ग शुभ्र-श्वेत होता है, अतः पाण्डुर के स्थान पर 'पाण्डर' पाठ अधिक उपयुक्त समझ पडता है—शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डरा इत्यमरः ।

अलंकारः—

समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम् मे वाचकलुप्तोपमा तथा क्षणोत्क्षिप्त......शम्भुना मे धर्मलुप्तोपमा अर्थालङ्कार है :—

लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ।

"औपम्यवाचिनो लोपे समासे क्विपि च द्विधा ।
द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मोपमानयोः" (सा० द०)

भावार्थ—

कर्पूरधवलो देवर्षिर्यदा नवजलधराणामधस्ताल्लम्बते तदा नून ताण्डवरतस्य उत्क्षिप्तगजाजिनस्य शम्भोः-शोभामनुकुरुते स्म ।

दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्र व्रततीततीरिव ।। ५ ।।

अन्वय—

अम्भोरुहकेसरद्युतीः जटाः दधानम्, शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् (अतएव) विपाकपिङ्गाः तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीः दधानम् धराधरेन्द्रमिव स्थितम् अमुम् नारद इत्यबोधि ।

अर्थ—

कमल की केसर की सी कान्तिवाली (अर्थात् पिङ्गल) जटाओ को धारण किए हुए, शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के समान (धवल) कान्ति वाले, (अतएव) बर्फीले स्थान मे उगी हुई तथा परिपक्व होने के कारण पीली लताओ के जाल को धारण करने वाले हिमालय के समान (स्थित उन्हे नारद जान लिया)

सर्वङ्कषा—

दधानमिति ।। पुनः अम्भोरुहकेसरद्युतीः पद्मकिंजल्कप्रभापिशङ्गीरित्यर्थः । जटा दधानम् , स्वय तु शरच्चन्द्रमरीचिरिव रोचिर्यस्य तम् । धवलमित्यर्थः । अतएव विपाकेन परिणामेन पिङ्गाः पिङ्गलास्तुहिनस्थल्यां तुषारभूमौ रोहन्तीति तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीर्लताव्यूहान् 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः ।

दधान धराधरेन्द्रो हिमवान् तुहिनस्थलीति लिङ्गाम्बारदोपमानत्वाच्च तमिव स्थितम् ।

व्याकरण:—

दधानम्—धा+शानच् (कर्तरि), तम् ।

अम्भोरुहकेसरद्युतीः—अम्भसि रोहति इति(अम्भस्+रुह्+क कर्तरि) अम्भोरुहम् (उपपदतत्पु०),तस्य केसराः (ष० तत्पु०) । तेषा द्युतिरिव द्युतिः यासा ताः (बहु० व्री०) ("सप्तम्युपमानपूर्वस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः"), ताः ।

शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्—शरदः चन्द्रः(ष०तत्पु०), तस्य मरीचयः (ष०तत्पु०), ते इव रोचिर्यस्य सः (ब०व्री), तम् ।

विपाकपिङ्गाः—विपाकेन (वि+पच्+घञ् भावे) पिङ्गाः । यथा किराते "अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः" ।

तुहिनस्थलीरुहः—तुहिनस्य स्थली (ष०तत्पु०), तस्या रोहन्ति इति तुहिनस्थलीरुहः (तुहिनस्थली+रुह्+क्विप् कर्तरि) (उप० तत्पु०), ताः ।

धराधरेन्द्रम्—धरति इति धरा (धृ+अच् कर्तरि स्त्रियाम्), तस्या धराः (ष० तत्पु०), तेषाम् इन्द्रः (ष० तत्पु०), तम् हिमालयमित्यर्थः । यथाह कालिदासः 'यज्ञांगयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च । प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत्' ॥ (कुं० स०)

व्रततीततीः—व्रततीना ततयः (ष० तत्पु०), ताः ।

कोषः—

मरीचिः—भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम् इत्यमरः ।

रोचिः—स्युःप्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः । रोचिःशोचिरुभे क्लीबे इत्यमरः ।

पिङ्गः—कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ इत्यमरः ।

अलंकार —

उपमा तथा अनुप्रास ।

भावार्थ —

धवलकान्तिः मुनिः शिरसा पिङ्गलप्रभा जटा वहन् तुषारमण्डिताधित्यकासु उत्पन्ना विपाकेन पिङ्गलवर्णा लता धारयन् गिरिराजो हिमालय इव शुशुभे ।

पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छवि वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति ।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ।। ६ ।।

अन्वय—पिशङ्गमौञ्जीयुजम्, अर्जुनच्छविम्, अञ्जनद्युति एणाजिन वसानम् (अतएव) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरा शितिवाससस्तनु विडम्बयन्तम् (अमुम् नारद इत्यबोधि) ।

अर्थ—पीली मुञ्जमेखला से युक्त, धवल कान्ति वाले, कज्जल के समान काला मृग चर्म ओढे हुए, (अतएव) सुवर्ण की मेखला (करधनी) से अधोवस्त्र (धोती) बाधे हुए नीलाम्बर बलराम के शरीर का अनुकरण करते हुए (उन्हे नारद जान लिया) ।

सर्वङ्कषा—

पिशङ्गेतिः ।। पुनः कीदृशम् । मुञ्जस्तृणविशेषः तन्मयी मेखला मौञ्जी पिशङ्ग्या मौञ्ज्या युज्यत इति पिशङ्गमौञ्जीयुक् तम् । 'सत्सूद्वि षइत्यादिना क्विप् 'स्त्रियाः पुंवत्—' इति पिशङ्गशब्दस्य पुंवद्भावः । अर्जुनच्छवि धवलकान्तिम् वलक्षो धवलोऽर्जुनः इत्यमरः । अञ्जनद्युत्यञ्जनवर्णं एणाजिन कृष्णमृगचर्म वसानमाच्छादयन्तम् । 'वस आच्छादने' इति धातोः शानच् । सुवर्णसूत्रेण कनकमेखलया आकलित बद्धमधराम्बरमन्तरीयं यस्यास्ता शितिवाससो नीलाम्बरस्य तनुं विडम्बयन्तम् । अनुकुर्वाणामित्यर्थः । आर्थीयमुपमा ।।

व्याकरण—

पिशङ्गमौञ्जीयुजम् = मुञ्जस्य विकार इति मौञ्जी (मुञ्ज + अण् स्त्रियाम्), पिशङ्गी पिङ्गलवर्णा चासौ मौञ्जी च पिशङ्ग० (कर्मधा०), तया युज्यते

इति पिशङ्गमौञ्जीयुक् (पिशङ्गमौञ्जी+युज्+क्विप् कर्तरि) (उप० तत्पु०), तम् । (यहाँ 'स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी-प्रियादिषु' इस नियम से पिशङ्गमौञ्जी पद मे पिशङ्गी को पुंस्त्व रूप मिला है ।

अर्जुनच्छविम् = अर्जुना (धवला) छविर्यस्य (ब० व्री०), तम् ।

वसानम् = वस+शानच् कर्तरि, तम् ।

एणाजिनम् = एणस्य (मृगस्य) अजिनम् (ष० तत्पु०), तत् ।

सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम् = सुवर्णस्य सूत्रम् सुवर्णसूत्रम् (ष० तत्पु०), अधरम् अधोधृतम्) अम्बरम् अधराम्बरम् (कर्म० समास) । सुवर्णसूत्रेण आकलितम् (आ+कल+णिच् (स्वार्थे)+क्त (कर्मणि) इति सुवर्ण० (तृतीया तत्पु०) । सुवर्णसूत्राकलितम् अधराम्बर यस्याः सा (ब० व्री०), ताम् ।

विडम्बयन्तम् = वि+डम्ब+णिच् (स्वार्थे)+ शतृ (कर्तरि) विडम्बयन्, तम् ।

शितिवाससः = शिति (मेचकम्) वासः (वस्त्र) यस्य सः शितिवासाः (ब० व्री०), तस्य बलदेवस्येत्यर्थः ।

कोषः—

पिशङ्ग—"कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ" इत्यमरः ।

अर्जुन—अवदातः सितो गौरो वलक्षो धवलोऽर्जुनः—अमरः

शिती—शिती धवलमेचकौ—अमरः

अलकार— यहाँ अनुप्रास तथा उपमा अलङ्कार है । ऐसी उपमा आर्थी कही जाती है—"आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थौ यत्र वा वतिः"—सा० द० ।

यहाँ उपमेय (नारद) पुल्लिँङ्ग तथा उपमान (बलदेवतनु) स्त्रीलिङ्ग है । इसे साहित्य के अचार्यों ने अलङ्कार का भग्नप्रक्रम नामक दोष कहा है –

अस्याम् (उपमायाम्) एवोपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदस्य कालपुरुषविध्यादिभेदस्य च भग्नप्रक्रमत्वम् (सा० द०, सप्तमः परिच्छेदः)।

भावार्थ—मौञ्ज्या मेखलया समन्विता कृष्णसारमृगाजिनं परिदधानो गौरवर्णो मुनिः सुवर्णमेखलया बद्ध नीलाम्बरं धारयतो धवलवपुषो बलदेवस्य शोभा दधौ।

विहंगराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः ।
कृतोपवीत हिमशुभ्रमुच्चकैर्घन घनान्ते तडितां गणैरिव ॥७॥

अन्वय—

विहङ्गराजाङ्गरुहैः इव आयतैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः कृतोपवीत, हिमशुभ्रं, (अतएव) घनान्ते तडिता गणैः (उपलक्षितम्) उच्चकैः घनमिव (स्थितम् अमु नारद इत्यबोधि)।

अर्थः—

गरुड के रोमों की भाति लम्बे, सुनहली भूमि मे उत्पन्न होने वाली लताओ के वने हुए (सुनहले) यज्ञोपवीत वाले एव बर्फ के समान गौर वर्ण वाले अतएव विजलियों के समूह से युक्त शरत्कालीन उन्नत मेघ के समान लगते हुए (उन्हे नारद जान लिया)।

टिप्पणी:—नारद जी का यज्ञोपवीत सुनहले रंग का था और वे स्वयं हिम के समान गौर थे तथा आकाश मे ऊँचे स्थित थे। अतः कवि ने उनको उपमा शरत्काल के उस विद्युयुक्त मेघ से दी है, जो जलहीन होने के कारण श्वेत और उन्नत होता है। (वर्षा के मेघ जलभार से नीचे लटक आते हैं और काले होते है।)

सर्वङ्कषा—

विहगेति।। पुनः। विहंगराजाङ्गरुहैरिव गरुत्मल्लोमतुल्यैरायतैर्दीर्घैः। हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयी। 'दाण्डिनायन—' इत्यादि नामयटि यलोप-

निपातः । तस्यामुर्व्यां रुहा रूढाः । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । तासावल्लीना तन्तुभिस्तत्तुल्यैः सूक्ष्मावयवैः । उपादानगुणात् । हिरण्मयैः कृतोपवीत शोभार्थं कल्पितयज्ञसूत्र स्वयं हिमशुभ्रम् । अतएव घनान्ते शरदि तडिता गणैरुपलक्षितम् । 'तडित्सौदामनी विद्युत्' इत्यमरः । उच्चै रेवोच्चकैरुन्नतघनं मेघमिव स्थितम् ॥

व्याकरण—

विहङ्गराजाङ्गरुहैः = विहायसा गच्छन्ति इति (विहायस् + गम् + खच् कर्तरि) विहङ्गाः (उप०तत्पु०), अ गेषु रोहन्ति इति अङ्गरुहाः(अ ग + रुह + क कर्तरि) उप० तत्पु० । विहगाना राजा इति विह गराजः (विहग + राजन् + टच्) ष० तत्पु० । तस्य अ गरुहाः, तैः (यह तृतीयान्त पद कृतोपवीतं मे 'कृत' का करण है ।)

आयतैः—आ + यम् + क्त (कर्तरि) आयताः, तैः ।

हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः :—हिरण्यस्य विकारः इति हिरण्मयी (हिरण्य + मयट् स्त्रियाम्, हिरण्मयी चासौ उर्वी चेति हिरण्मयोर्वी (कर्मधा०) । तस्या रोहन्ति इति हिरण्मयोर्वीरुहः (हिरण्मयोर्वी + रुह् + क कर्तरि स्त्रियाम्) उप० तत्पु० । तादृश्यः वल्लयः (कर्मधा०) । तासा तन्तवः (ष० तत्पु०), तैः ।

कृतोपवीतम्—(उप + वि + इ + क्त कर्तरि) उपवीतम् । कृतम् उपवीतं यस्य सः (बहु० व्री०), तम् ।

हिमशुभ्रम्—हिममिव शुभ्रः हिमशुभ्रः (उपमानकर्मधा०),तम् ।

घनान्ते—घनस्य अन्तः घनान्तः, (ष० तत्पु०) , तस्मिन् । अथवा घनानामन्तः घनान्तः (ष० तत्पु०) सः अस्ति अस्मिन् इति घनान्तः (घनान्त + अच् मत्वर्थ), तस्मिन् ।

कोषः—

"वल्ली तु व्रततिर्लता"—(अमरः) । "तडित्सौदामिनी-
विद्युच्चलताञ्चला चपला अपि (अमरः) ।
"उपवीत यज्ञसूत्र प्रोद्धृते दक्षिणे करे"—(अमर) ।

अलङ्कार—उपमालङ्कार । (नारद का यज्ञोपवीत स्वर्णिम- भूमि पर उगने वाली अतएव स्वर्णवर्णा की लता के तन्तुओ से निर्मित था और उसका विस्तार बताने के लिये ही गरुड के विशाल प खो को उपमान के रूप मे रक्खा गया है ।

भावार्थः—शुभ्रवर्णो देवर्षिर्हेमवर्णसूत्रै निर्मितं यज्ञोपवीतं दधानः तडिल्लेखालाञ्छितः शरद्घन इव रराज ।

निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ।। ८ ।।

अन्वय—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा, लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना चारुचमूरुचर्मणा कुथेन इन्द्रवाहनं नागेन्द्रमिव चकासतम् (अमुं नारद इत्यबोधि)।

अर्थः – स्वभाव से ही चितकबरे और उज्ज्वल (चटकीले) सूक्ष्म रोमो से युक्त, सुशोभित मृणाल के खण्ड की भाति गौर शरीर पर पडे हुए सुन्दर मृग-चर्म के झूल मे इन्द्र के वाहन ऐरावत की भाँति शोभित होते हुए (उन्हे नारद जान लिया)।

सर्वङ्कषा—

निसर्गेति ।। पुनः निसर्गात्स्वभावादेव चित्राणि शबलान्युज्ज्वलानि भास्वराणि लोमानि यस्य तेन । लसन्यो बिसच्छेदो मृणालखण्डः । 'छेदः खण्डेऽस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः । तद्वत्सितेऽङगे वपुषि सङ्गिना सक्तेन चारुणा मनोहरेण चमूरुचर्मणा मृगत्वचा कुथेन पृष्ठास्तरणेन । 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः । इन्द्रवाहनं नागेन्द्रमैरावतमिव चकासतं शोभमानम् इन्द्रस्य वाहनमिति स्वस्वामिभावमात्रस्य विवक्षितत्वात् 'वाहनमाहितात्' इति न णत्वम् । यथाह वामनः - 'नेन्द्रवाहनशब्दे णत्वमाहितत्वस्याविवक्षितत्वात्' इति । चकासतेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा ।।

व्याकरण— .

निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा—चित्राणि च उज्ज्वलानि चेति चित्रो-

ज्ज्वलानि (कर्मधा०), चित्रोज्ज्वलानि च तानि सूक्ष्माणि चेति चित्रो० (कर्मधा०) तादृशानि पक्ष्माणि यस्य तत् (ब० व्री०), तेन

लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना—बिसस्य छेदः (ष० तत्पु०), लसन् (लस्+शतृ कर्तरि) बिसच्छेदः इति लसद्बिसच्छेदः (कर्मधा०), स इव सितम् (उपमान कर्म०) । तादृशम् अङ्गम् (कर्मधा०), तस्य सङ्गी (ष० तत्पु०), तेन ।

चकासतम्—चकास् (अदादि)+शतृ कर्तरि, तम् । "जक्षित्यादयः षट्" (६।१।६) नियम से चकास् भी अभ्यस्त-सञ्ज्ञक हो जाती है, अतः "नाभ्यस्ताच्छतुः" (७।१।७८) नियम से इसमे होने वाले शतृ को नुम् नही हुआ ।

चारुचमूरुचर्मणा— चमूरोश्चर्म (ष० तत्पु०) । चारु चमूरुचर्म (कर्मधा०), तेन ।

इन्द्रवाहनम्—इन्द्रस्य वाहनम् [ष० तत्पु०) यहाँ "वाहनमाहितात्" (८।४।८) नियम से वाहन के न को, पूर्वपद इन्द्र मे र के होते हुये भी, णत्व नही हुआ क्यो कि यहाँ इन्द्र केवल ऐरावत के स्वामी के नाते प्रयुक्त हुये है, सवार के रूप मे नही । यहाँ इन्द्र मे आहितत्व [सवारी] विवक्षित नही है ।

कोषः—

"स्वरूपं च स्वभावश्च" [अमर]

'पक्ष्माक्षिलोम्नि किञ्जल्के तन्त्वाद्यंशेऽप्यणीयसि —[अमर.]

मृणालं बिसम्" [अमर.]

अलङ्कार—यहाँ अनुप्रास एव उपमा अलकार है ।

भावार्थः—देवर्षेर्नारदस्य धवलवर्णेऽङ्गे उत्तरीयस्थाने विचित्रवर्णं चमूरू-मृगचर्म बद्धम् आसीत् येन स मुनिः पृष्ठास्तरणावृत ऐरावत इव रेजे ।

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥६॥

अन्वय—अजस्रम् आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्न-

या, (अतएव) पुरः प्रवालैः पूरितार्धया इव अच्छस्फटिकाक्षमालया विभान्तम् (अमुं नारद इत्यबोधि)।

अर्थ—वीणा के सतत बजाए गये तारो की रगड से (लाल पड़े हुए) अ गूठे के नख की उज्ज्वल (लाल) किरणो से मिश्रित होने के कारण अगले आधे भाग मे मानो मूँगो से पूरित (युक्त) स्वच्छ स्फटिक की माला से सुशोभित (उन्हे नारद जान लिया)

सर्वङ्कषा—

अजस्रमिति ॥ पुनरजस्र प्राचुर्येणास्फालितास्ताडिताः । सौष्ठवपरीक्षार्थ न्युब्जाङ्गुष्ठेन तन्त्रीताडन प्रसिद्धम् । तेषा वल्लकीगुणाना वीणातन्त्रीणा क्षतेन सघर्षणेनोज्ज्वलैरङ्गुष्ठनखाशुभिर्भिन्नया मिश्रया । तद्रागरक्तयेत्यर्थः अतएव पुरः पुरोभागे प्रवालैर्विद्रुमैः । '—अथ विद्रुमः पुंसि प्रवाल पुनपुंसकम्' इत्यमरः । पूरितार्धयेव स्थितया अच्छस्फटिकाना मालया । जयमालयेत्यर्थः । 'अच्छो भल्लूके स्फटिकेऽमलेऽच्छाभिमुखेऽव्ययम्' इति हेमचन्द्रः । तथा प्रसिद्धस्फटिकग्रहणाद्दषेर्मोक्षार्थित्व व्यज्यते । 'स्फटिको मोक्षदः परम्' इति मोक्षार्थिना स्फटिकाक्षमालाभिधानात् । विभान्त भासमानम् । भातेः शतृप्रत्ययः । अत्र नखाशुभिन्नयेति स्वगुणत्यागेनान्यगुणस्वीकारलक्षणस्तद्गुणालकार उक्तः तद्गुणः स्वगुणत्यागात्' इति ॥

व्याकरण—

अजस्रम्=न जस्यति मुञ्चति (नञ्+जस+कर्तरि)।

आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया—वल्लक्या गुणा । वल्लकीगुणाः (ष० तत्पु०) । अङ्गुष्ठस्य नखः अङ्गुष्ठनखः (ष० तत्पु०; आस्फालिताः (आ+स्फाल्+णिच्+क्त कर्मणि) वल्लकीगुणाः इति आस्फालितवल्लकीगुणाः (कर्मधारय०), तेषा क्षतम् (ष० तत्पु०), तेन उज्ज्वलः(तृ० तत्पु०) । स चासौ अङ्गुष्ठनखश्च (कर्मधा०)। तस्य अंशवः (ष० तत्पु०), तैः भिन्ना (तृ० तत्पु०), तया ।

पूरितार्द्धया—पूरितम् (पूर+णिच्+क्त कर्मणि) अर्द्धम् यस्याः सा पूरितार्धा (बहु० व्री०), तया ।

विभान्तम्—वि + भा + शतृ, तम् ।

अच्छस्फटिकाक्षमालया—अक्षाणां माला इति अक्षमाला (ष० तत्पु०) अच्छाः स्फटिकाः इति अच्छस्फटिकाः (कर्मधारय), तेषाम् अक्षमाला इति अच्छस्फटिकाक्षमाला (ष० तत्पु०), तया ।

कोषः—

"नित्यानवरताजस्रमपि"—अमरः ।

"वीणा तु वल्लकी"—अमरः ।

"गुणज्यासूत्रतन्तुषु रज्जौ"—हैमः ।

अलङ्कार—यहा मल्लिनाथ के अनुसार स्फटिक की माला अपने धवल वर्ण का त्याग कर नख की रक्ताभ किरणो से रक्त गुण स्वीकार करती है, अतः 'तद्गुण' नामक अर्थालङ्कार है (तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः —सा० दर्पण) । किन्तु माला अपना पूर्ण गुण त्याग नही करती । अतः तद्गुण की अपेक्षा उत्प्रेक्षा अधिक स्पष्ट प्रतीत होती है ।

भावार्थ—नारदस्य करे शोभमाना धवलस्फटिकगुटिकाविनिर्मितजयमाला तस्य सतततन्त्रीसघर्षणेन गाढारुणया अङ्गुष्ठनखप्रभया प्रवालपूरितार्द्धा इव बभौ ।

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥१०॥

अन्वय—नभस्वत आघट्टनया पृथक् रणद्भिः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छना महती मुहुर्मुहुः अवेक्षमाणम् (अमु नारद इत्यबोधि) ।

अर्थ—वायु के आघात से पृथक् निकलने वाले (बजने वाले—अक्षरार्थ) व्यवस्थित (नियत) श्रुतिसमूहो से युक्त स्वरो के द्वारा स्पष्ट फूटते (निकलते) हुए विशिष्ट स्वर-सघातो और उनके आरोहावरोहो (लय) वाली अपनी महती नामक वीणा को बार २ देखते हुए (उन्हे नारद जान लिया) ।

टिप्पणी —स्वरो के आरम्भ में होने वाले उन (स्वरो) के पूर्वाङ्ग-भूत शब्द-विशेष को 'श्रुति' कहते है जैसा कि मल्लिनाथ ने अपनी सर्वङ्कषा मे 'श्रुतिर्नाम स्वरारम्भकावयवः शब्दविशेषः' कहकर स्पष्ट किया है। स्वरो के सघात को सगीत शास्त्र की भाषा मे 'ग्राम' कहते है और ये ग्राम षड्ज, मध्यम तथा गान्धार के भेद से तीन प्रकार के होते है। 'ग्राम' का लक्षण तथा उसके तीनो भेद नीचे सर्वङ्कषा मे दिए गए है। स्वरो के आरोहावरोह या चढाव-उतार को 'मूर्च्छना' कहते है। एक 'ग्राम' मे सात मूर्च्छनाये होती है। इस प्रकार तीनो 'ग्रामों' मे कुल २१ मूर्छनाये होती है।

रणद्भिरिति—पुनः नभस्वतो वायोराघट्टनया आघातेन पृथगसकीर्णं रणद्भि-र्ध्वनद्भिः। अनुरणनोत्पद्यमानैरित्यर्थः। 'श्रुत्यारब्धमनुरणन स्वरः' इति लक्षणात्, तदुक्त रत्नाकरे—'श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः। स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्त स स्वर उच्यते।' इति। श्रुतिर्नाम स्वरारम्भकावयवः शब्दविशेषः। तदुक्तम्—'प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः। सा श्रुतिः सपरिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा॥' इति। विभिन्नानि प्रतिनियतसख्यया व्यवस्थितानि श्रुतीना मण्डलानि समूहा येषा तैर्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः। श्रुतिसख्यानियमश्च दर्शितः-'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः। द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिऋ-षभधैवतौ॥' षड्जादयः सप्तोक्तलक्षणाः। तदुक्तम्—'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः। पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते। तेषा संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः॥' इति। तैः स्वरैः स्फुटीभवन्त्यो ग्रामविशेषाणां षड्जाद्यपरनामकाना स्वरसघातभेदाना त्रयाणा मूर्च्छनाः स्वरारोहक्रमभेदा यस्या ता महती महतीनाम्नी निजवीणाम् 'विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कला-वती। महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी॥' इति वैजयन्ती। मुहुर्मुहुर-वेक्षमाणम्। तन्त्रीयोजनाभेदलक्षणमहिम्ना पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैवाविसंवादं ध्वन-तीति कौतुकादनुसदधानमित्यर्थः। अथ ग्रामलक्षणम्—'यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि। तथा स्वराणा सदोहो ग्राम इत्यभिधीयते॥ षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च। गान्धारग्राम इत्येतद्ग्रामत्रयमुदाहृतम्॥' इति।

तथा—'नन्द्यावर्तोऽथ जीमूतः सुभद्रो ग्रामकास्त्रयः । षड्जमध्यमगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः ॥' इति । मूर्च्छनालक्षणं च—'क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च। ।' ग्रामत्रयेऽपि प्रत्येक सप्त सप्त मूर्च्छना इत्येकविंशतिमूर्च्छना भवन्ति । तत्रेह नामानि तु 'नानपेक्षितमुच्यत' इति प्रतिज्ञाभङ्गभयान्न लिख्यन्त इति सर्वमवदातम् । अत्र पु व्यापारमन्तरेण स्वराद्याविभावोक्त्या कोऽपि लोकातिक्रान्तोऽयं शिल्पसौष्ठवातिशयो वीणायाः प्रतीयते । तेन सह स्वतः प्रसिद्धाविशयस्याभेदेनाध्यवसितत्वात्तन्मूलाf शयोक्तिरलंकारः । सा च महत्याः पु व्यापार विना मूर्च्छाद्यसबन्धेऽपि सबन्धाभिधानादसंबन्धे संबन्धरूपतया पु व्यापाराख्यरूपकारणं विनापि मूर्च्छनादिकार्योत्पत्तिद्योतनाद्विभावना व्यज्यत इत्यलकारध्वनिरिति संक्षेपः ॥

व्याकरण—

रणद्भिः—रण्+शतृ (कर्तरि), रणन्तः, तैः

आघट्टनया—आ+घट्ट+णिच्(स्वार्थे)+युच् (भावे) आघट्टना, तया

नभस्वतः—नभः अस्ति अस्य इति नभस्वत् (नभस्+मतुप्) (यहाँ 'तसौ मत्वर्थे' नियम से नभस् का 'स्' मत्वर्थ प्रत्यय के रहने पर पद न हुआ । अतः इस 'स्' को कोई सन्धि-विकार नही हुआ ।)

विभिन्नश्रुतिमण्डलैः—श्रुतीना मण्डलानि श्रुतिमण्डलानि(ष० तत्पु०), विभिन्नानि श्रुतिमण्डलानि येषा ते (ब० व्री०), तैः ।

स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम्—ग्रामाणां विशेषाः ग्रामविशेषाः (ष० तत्पु०), तेषां मूर्च्छनाः (ष० तत्पु०) । अस्फुटाः स्फुटाः सम्पद्यमाना भवन्त्य फुटीभवन्त्यः (स्फुट+च्वि+भू+शतृ+ङीप्) (गति तत्पु०) । स्फुटीभवन्त्य ग्रामविशेषमूर्च्छनाः यस्या सा (बहु०), ताम् ।

अवेक्षमाणम्—अव+ईक्ष+शानच् (कर्तरि), तम् ।

कोष—

नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः'' अमरः

अलकार—

यहाँ वीणामे बिना किसी व्यक्ति के प्रयत्न किये ही स्वरो की व्यक्त ध्वनि हो रही है, जिससे उसका अतिशय (वैशिष्ट्य) द्योतित होता है। अतः इसे असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अर्थालङ्कार कहा जायगा क्योकि मूर्च्छनाओं का जो सम्बन्ध महती नामक वीणा के साथ कहा गया है, वह वास्तव मे किसी व्यक्ति-विशेष के प्रयत्न के बिना वहाँ है नही। फिर इस अतिशयोक्ति से विभावना नामक एक अन्य अलङ्कार भी व्यञ्जित होता है, क्योकि यहाँ किसी व्यक्ति-विशेष के प्रयत्न रूप कारण के बिना ही मूर्छना-रूप कार्य होता है। इस प्रकार यहाँ अलङ्कार से अलङ्कार की ध्वनि (व्यञ्जना) होती है।

सस्कृतार्थ :—

अवतरति देवर्षौ तस्य महतीनाम्न्यां वीणाया वायोराघाताद् विभिन्नाः स्वरा युगपदेव सञ्जाताः। ते स्वरा अपि गतिवेगवशाद् आरोहावरोहक्रमेणैव स्वनन्तः षड्जमध्यमगान्धाराणां ग्रामाणा मूर्च्छना प्रकटीचक्रुः। मुनिरपि ततः सकौतुकात् ता महतीमवैक्षत।

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभःसदः।
समासदत्सादितदैत्यसंपदः पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः॥ ११॥

अन्वय—

अतीन्द्रियज्ञाननिधिः सः अनुव्रजतः कृतानतीन् नभः सदः निवर्त्य सादितदैत्य-सम्पदः चक्रिणः महेन्द्रालयचारु पदं समासदत्।

अर्थ—

इंद्रियो के द्वारा न जानने योग्य ज्ञान के निधान नारद जी अपने पीछे आते हुए देवताओं को, जो प्रणाम कर चुके थे, लौटा कर दैत्यों का वैभव

विध्वस करने वाले सुदर्शनचक्रधारी भगवान् कृष्ण के इन्द्रभवन-सदृश सुन्दर स्थान पर आ पहुचे ।

निवर्त्येति ॥ अतीन्द्रिया इन्द्रियमतिक्रान्ता देशकालस्वरूपाद्विप्रकृष्टार्थाः । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । 'द्विगुप्राप्तापन्नालपूर्वगतिसमासेषु परलिङ्गताप्रतिषेधो वक्तव्य.' इति विशेष्यलिङ्गत्वम् । तेषा ज्ञान तस्य निधिः । सर्वार्थद्रष्टेत्यर्थः । कृतानतीन्कृतप्रणामाननुव्रजतोऽनुगच्छतः नभस्याकाशे सीदन्ति गच्छन्तीति नभःसद. सुरान् । 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप् । निवर्त्य प्रतिषिध्य स मुनिः सादितदैत्यसपदः सादिताः विध्वस्तीकृता. दैत्याना सपदो येन तस्य चक्रिणः कृष्णस्य पद स्थान महेन्द्रालयचारु इन्द्रभवनमिव भासमान समासदत् । समाङ्पूर्वात्षद्लृधातोर्लुङ् । 'पुषादि–' इत्यङ् । अत्र नतीनती पदःपदमिति च द्वयोर्व्यञ्जनयुग्मयोरसकृदावृत्त्या छेकानुप्रास. । अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास इत्यनयोः ससृष्टिः ।

व्याकरण—

निवर्त्य—नि + वृत् + णिच् + ल्यप्

अनुव्रजतः—अनु + वृज् + शतृ + तान्

कृतानतीन्—आनतिः (आ + नम् + क्तिन् भावे) । कृता आनतिर्यैः (ब० व्री०), तान् ।

अतीन्द्रियज्ञाननिधिः—इन्द्रियम् अतिक्रान्ताः अतीन्द्रियाः (गति तत्पु०) । तेषा ज्ञानम् (ष० तत्पु०), तस्य निधिः (ष०तत्पु०)

नभः सदः—नभसि सीदन्ति इति नभःसदः (नभस् + सद् + क्विप् कर्तरि) (उप० तत्पु०), तान्

समासदत्—सम् + आ + सद् + लुङ् तिप् ।

सादितदैत्यसम्पदः—दैत्याना सम्पत् (ष०तत्पु०), सादिता (सद् + णिच् + क्त कर्मणि) दैत्यसम्पत् येन सः (ब० व्री०), तस्य ।

महेन्द्रालयचारु—महेन्द्रस्य आलयः (ष० तत्पु०), स इव चारु (उपमान-कर्म०), तत् ।

चक्रिणः—चक्रम् अस्ति अस्य इति चक्री [चक्र + इनिः मत्वर्थे], तस्य ।

अलङ्कार—

यहा नतीनती तथा पदः पदम् मे दो दो व्यञ्जनो की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है, अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है और इस प्रकार दोनो शब्दालङ्कारों की 'संसृष्टि' है ।

भावार्थ—

त्रिदिवात् अन्वागच्छतः देवान् कृतप्रणामान् निवर्त्य दिव्यदर्शी देवर्षि वैजयन्तोपम श्रीकृष्णभवनम् एकाकी एवाजगाम ।

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ।। १२ ।।

अन्वय—

पतत्पतङ्गप्रतिमः तपोनिधिः अस्य पुरः भुवि यावत् न व्यलीयत, तावत् अच्युतः उच्चकैः गिरेः तडित्वान् इव उच्चकैः आसनात् जवेन उदतिष्ठत् ।

अर्थ

नीचे आते हुए सूर्य के समान (तेजस्वी) मुनि नारद जी भगवान् कृष्ण के सम्मुख पृथ्वी पर आ भी नही पाये थे कि वे उन्नत पर्वत से विद्युन्मय मेघ के समान अपने ऊँचे आसन से वेगपूर्वक उठ कर खडे हो गए ।

पतदिति ।।पतन् यः पतङ्गः सूर्यः स प्रतिमोपमानं यस्य सः । 'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः । तपोनिधिर्मुनिरस्य हरेः पुरो भुवि पुरः प्रदेशे यावन्न

व्यलीयत नातिष्ठत् । लीङ् गतौ' इति धातोर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । तावदच्युतो हरिर्गिरेः शैलात् । तडितोऽस्य सन्तीति तडित्वान्मेघ इव । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मतुपो मकारस्य वकारः । 'तसौ मत्वर्थे' इति भसञ्ज्ञायामेकसञ्ज्ञाधिकारेणापदत्वान्न जश्त्वम् । उच्चकैरुन्नतात्पीठादासनाज्जवेनोदतिष्ठत् । मुनिचरणस्य भूस्पर्शात्प्रागेव स्वयमुत्थितवान् । 'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते' ।। इति शास्त्रमनुस्मरन्निति भाव. । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' इति नियमादिहोर्ध्वकर्मणि नात्मनेपदम् । पतत्पतङ्ग इत्यत्र पतङ्गस्य पतनासभवादियमभूतोपमेत्याचार्यदण्डिप्रभृतयो बभणुः । अतएवाप्रसिद्धस्योपमानत्वायोगादुत्प्रेक्षेत्याधुनिकालकारिकाः सर्वे वर्णयन्ति ।।

व्याकरण—

पतत्पतङ्गप्रतिमः—पतन् (पत् शतृ) चासौ पतङ्गः (कर्मधा०), पतत्पतङ्गः प्रतिमा यस्य सः (बहु० व्री०) पतत्पतङ्गप्रतिमः ।

तपोनिधिः—निधीयते अस्मिन्निति निधिः (नि + धा + कि अधिकरणे), तपसा निधिः तपोनिधिः (ष० तत्पु०] ।

पुरस्य—यहाँ पुर' दिग्वाची है तो भी चूँकि इसमे असि प्रत्यय हुआ है (पूर्व + ङि + असि स्वार्थे) जो अतसर्थ है, अतः 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' नियम से अस्य में षष्ठी ही हुई ।

व्यलीयत—वि+लीङ् (गत्यर्थक दिवादिगणीय धातु) + लङ् (कर्तरि) ।

तडित्वान्—तडिदस्ति अस्येति (तडित् + मतुप्) (तसौमत्वर्थे इस सूत्र से तडित् के 'त्' को कोई सन्धिविकार नही हुआ) ।

उच्चकैः—पञ्चम्यन्त अव्यय; 'पीठात्' के विशेषण रूप मे प्रयुक्त ।

उदतिष्ठत्—उद् + स्था + लङ् + तिप् ।

कोष :—

पतङ्गः = "पतङ्गौ पक्षिसूर्य्यौ च" । तडित्वान् – "धाराधरो जलधरस्तडित्वान् वारिदोऽम्बुभृत्" अमरः । अच्युतः = पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः इत्यमरः ।

अलङ्कार—

अनुप्रास एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार । विशेष सर्वङ्कषा मे द्रष्टव्य है ।

भावार्थ—

तेजोराशौ देवर्षौ नारदे आकाशात् स्वसम्मुखमवतरत्येव तत्स्वागतार्थं भूमौ तस्य पादस्पर्शात् पूर्वमेव स्वोच्छ्रितादासनात् वेगेन उत्तिष्ठन् पीताम्बरो भगवान् शौरिः उच्छ्रितात् गिरिशिखरात् उद्गच्छन् विद्युन्मयो मेघ इव बभौ ।

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथंचित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ।। १३ ।।

अन्वय—

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः फणिनां-गणैः अधः कथञ्चित् धृते भुवस्तले धातुः सुतेन अभिदेवकीसुत चरणौ न्यधायिषाताम् ।

अर्थ—

तदनन्तर ब्रह्मा के पुत्र नारद जी ने पातल मे नाग-गणो द्वारा प्रयत्न-पूर्वक ऊपर उठाये जाने पर भी नीचे की ओर झुकते हुये फणो पर किसी २ प्रकार से धारण किये गये-भूतल पर भगवान् कृष्ण के सम्मुख अपने पैर रखे ।

अथेति ।। अथाच्युताभ्युत्थानानन्तर धातुः सुतेन नारदेन प्रयत्नोन्नमितास्तथापि मुनिपादन्यासभारादानमन्त्यः फणा येषा तैः फणिना गणैरधोऽधःप्रदेशे कथचिद्धृते स्थापिते भुवस्तले भूपृष्ठे । अभिदेवकीसुतं देवकीसुतमभि । लक्ष्यीकृत्येत्यर्थः । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः । चरणौ पादौ । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । न्यधायिषाता निहितौ । दधातेः कर्मणि लुङ् । 'स्यसिच्सी--' इत्यादिना चिण्वदिटि युक् । अत्र फणाना नमनोन्नमनासबन्धेऽपि मुनिगौरवाय तत्सबन्धाभिधानादतिशयोक्तिभेदः ।।

व्याकरण—

प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः—प्रयत्नेन उन्नमिताः (उद्+नम्+णिच् +क्त कर्मणि) प्रत्यत्नोन्नमिताः (तृ० तत्पु०) । प्रयत्नोन्नमिताः आनमन्तः (आनमन्त्य.वा) फणाः येषा ते (ब० व्री०), तैः ।

फणिनाम्—फणाः सन्ति एषाम् इति (फण+इनिः (मत्वर्थे), तेषाम् ।

न्यधायिषाताम्—नि+धा+लुङ् आताम् (कर्मणि)

अभिदेवकीसुतम्—देवक्याः सुतः इति देवकीसुतः (ष० तत्पु०), देवकीसुतम् अभि अभिदेवकीसुतम् (अव्ययीभाव) । (यहाँ यदि समास न माने तो भी पद अथवा अर्थ मे कोई परिवर्तन न होगा ।)

धातुः—धा+तृच् +(कर्तरि)+षष्ठी एकवचन ।

कोष—

फण—"स्फटाया तु फणा द्वयोः"—अमरः ।

धातुः—"धाताब्जयोनिर्द्रुहिणो विरिञ्चिः कमलासनः"—अमरः

अलङ्कार—

यद्यपि फणियो के फणो का वस्तुत. नमन, उन्नमन आदि कुछ नहीं होता किन्तु मुनि के गौरव का अतिशय व्यक्त करने के लिए कवि ने उसकी

योजना की है। अत. इसे असम्बन्ध मे सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलङ्कार कहा जायगा।

भावार्थः—

तदनन्तर विरिञ्चिसुतो देवर्षिर्नारदो भगवतो देवकीसुतस्य पुरतो नागगणैः स्वफणैर्धृते भूतले चरणौ निदधौ।

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत्।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः॥ १४॥

अन्वय—

आदिपुरुषः स. अर्घ्यं तम् अर्घ्यादिकया सपर्यया साधु पर्यपूपुजत्। मनीषिणः अपुण्यकृता गृहान् प्रणयात् उपैतुम् अभीप्सव. न भवन्ति।

अर्थ—

आदि पुरुष उन भगवान् कृष्ण जी ने पूज्य उन नारद जी की अर्घ्य इत्यादि पूजा की सामग्रियो से विधिवत् पूजा की। सन्त जन (अक्षरार्थ—बुद्धिमान्) पुण्यहीनो के घर प्रेम पूर्वक पहुँचने की इच्छा (ही) नही करते।

टिप्पणी—

भाव यह है कि सन्त बडे ही भाग्य से प्राप्त होते है। अतएव जिन पुण्यवान् जनों को वे बिना बुलाए ही प्रेमपूर्वक दर्शन दे, उन्हे उनका आदर-सत्कार करना ही चाहिये।

तमिति॥ आदिपुरुषः पुराणपुरुषः 'अन्येषामपि दृश्यते' इति वा दीर्घः स कृष्णः। अर्घं पूजामर्हतीत्यर्घ्यः। 'दण्डादिभ्यो य' । त नारदम्। अर्घार्थं द्रव्यमर्घ्यम्। 'पादार्घाभ्या च' इति यत्प्रत्ययः। मूल्ये पूजाविधावर्घ.', 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे' इति चामरः। अर्घ्यमादिर्यस्यास्तयार्घ्यादिकया।

'शेषाद्विभाषा' इति विकल्पेन कप्प्रत्ययः । सपर्यया पूजया । 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्याचार्हणा समाः' इत्यमरः । साधु यथा तथा पर्यपूपुजत् । परिपूजितवान् । णौ चङन्तं कर्तव्यम् । युक्तं चैतदित्यर्थान्तरं न्यस्यति—गृहानिति । मनस ईषिणो मनीषिणः सन्तः । पृषोदरादित्वात्साधुः । अपुण्यकृता पुण्यमकृतवताम् । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति भूते क्विप् । गृहान्प्रणयादुपैतुमभीप्सवः प्राप्तुमिच्छवः । आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । आप्ज्ञप्यृधामीत् इतीकारः । न भवन्ति, किंतु पुण्यकृतामेव । अतः कृच्छ्रलभ्याः सन्तः पूज्या इत्यर्थः ॥

व्याकरण—

अर्घ्यम्—अर्घम् अर्हति इति अर्घ्यः (अर्घ+यत् 'दण्डादिभ्यो यत्'), तम् ।

अर्घ्यादिकया—अर्घार्थं द्रव्यम् अर्घ्यम् (अर्घ+यत्—"पादार्घाभ्याञ्च") अर्घ्यम् आदिर्यस्याः सा अर्घ्यादिका (अर्घ्यादि+कप्—"शेषाद् विभाषा") (ब० व्री०), तया ।

आदिपूरुषः—आदिश्चासौ पूरुषश्च इति आदिपूरुषः (कर्मधा०)

अपूपुजत्—परि+पूज्+णिच्+लुङ्तिप् ।

उपैतुम्—उप+आ+इ+तुमुन् ।

प्रणयात्—प्र+नी+अच् भावे=प्रणयः, तस्मात् (हेतौ पञ्चमी)

अभीप्सवः—अभि+आप्+सन्+उ (कर्तरि) (यहाँ 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' नियम से आप के आ को ईकार हो जाता है ।

पुण्यकृताम्— पुण्य कृतवन्तः इति पुण्यकृतः (पुण्य+कृ+क्विप् कर्तरि भूते) (उपपद तत्पु०) । न पुण्यकृतः इति अपुण्यकृतः (नञ् तत्पु०), तेषाम् ।

मनीषिण :—ईषन्ते इति ईषिणः (ईष् णिनिः कर्तरि , मनसः ईषिणः (ष० तत्पु०) । यहाँ मनस के अस् का लोप पृषोदरादि नियम से होता है ।

अथवा मनसः ईषा इति मनीषा (ष० तत्पु०), साऽस्ति एषामिति मनीषिणः (मनीषा इनिः मत्वर्थे) । मनस् मे अस् का लोप 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्त्तिक के अनुसार होगा ।

कोष—

सपर्या = "पूजानमस्याऽपचितिःसपर्यार्चार्हणाःसमाः"—अमरः ।

गृह = "गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः"—अमरः ।

मनिषिणः = "धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः"—अमरः ।

अलङ्कार—यहाँ उत्तरार्ध पूर्वार्ध का हेतु समझ पडता है, अतः काव्यलिंग अलङ्कार है ।

भावार्थ—पुराणपुरुषो हरिस्तं यथाविधि अर्घ्यादिपूर्वकम् अपूपुजत् । मनीषिणोऽपि अपुण्यशीलाना दुरात्मनामातिथ्य नैव स्वीकुर्वन्ति ।

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव ।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत् ॥१५॥

अन्वय—यावत् जनः उत्थितौ एतौ तुषाराञ्जनपर्वतौ इव न उदपश्यत्, तावत् चिरन्तनः मुनिः स्वहस्तदत्ते आसने मुनिम् अभिन्यवीविशत् ।

अर्थ—जब तक लोगो ने खड़े हुए, हिम तथा कज्जल के पर्वत के समान इन दोनों महापुरुषों को देखा भी नहीं था कि तब तक पुराण मुनि भगवान् श्री कृष्ण ने अपने हाथ से दिये गये आसन पर नारद मुनि को सम्मुख बिठा लिया ।

न यावदिति—उत्थितावेतौ मुनिकृष्णौ जनस्तुषाराञ्जनयोः पर्वताविव यावन्नोदपश्यन्नोत्प्रेक्षितवान् । तावच्चिरंतनः पुराणो मुनिः कृष्णः 'पुरा किल भगवान्बदरिकारण्ये नारायणावतारेण तपसि स्थितवान्' इति पुराणात् । 'सायंचिरम्—' इत्यादिना ट्यु प्रत्ययस्तुडागमश्च । स्वहस्तेन दत्ते आसने मुनिं

नारदमभिन्यवीविशत्स्वाभिमुखेनोपवेशितवान् । अभिनिपूर्वाद्विशतेर्ण्यन्ताल्लुङि 'णिश्री—' इति चङ् ॥

व्याकरण —

उत्थितौ = उद् + स्था + क्त कर्तरि ।

जनः = यहाँ जन शब्द जाति अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, अतः एक वचन होते हुये भी बहुवचन का अर्थ द्योतित करता है । ऐसे स्थल पर बहुवचन का भी प्रयोग हो सकता है—"जात्याख्यायाम् एकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्"

तुषाराञ्जनपर्वतौ = तुषारश्च अञ्जनश्च तुषाराञ्जने (द्वन्द्वः) । तयोः पर्वतौ तुषाराञ्जनपर्वतौ (ष० तत्पु०) ।

स्वहस्तदत्ते = स्वः हस्तः स्वहस्तः (कर्मधा०) । तेन दत्तम् स्वहस्तदत्तम (तृ० तत्पु०), तस्मिन् ।

आसने = आस्यते अस्मिन्निति आसनम् (आस् + ल्युट् अधिकरणे), तस्मिन् । यहाँ अभि और निपूर्वक विश् धातु के योग मे भी आधार— 'आसन'—मे सप्तमी ही प्रयुक्त हुई, "अभिनिविशश्च (१।१।४७) नियम से द्वितीया नही क्योकि पूर्वोक्त सूत्र मे 'अभिनिविश्' का अर्थ किसी विषय मे "साग्रह लगना" लिया गया है, किन्तु यहाँ अभिनिवश् का प्रयोग सम्मुख बैठने के अर्थ मे किया गया है, अत आधार 'आसन' मे सप्तमी ही रही ।

अभिन्यवीविशत् = अभि + नि + विश् + णिच् + लुङ् तिप् ।

चिरतनः = चिर भव इति चिरन्तनः (चिरम् + ट्यु = चिरम् + तुट् + ट्यु) । सायचिर प्राह्णे पगेऽव्ययेभ्यः ट्युट्युलौ तुट् च ।" ४।३।२३ नियम से सायम् आदि मे ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय लगते है और शब्द तथा प्रत्यय के बीच मे 'त्' का आगम हो जाता है ।

अलंकार—यहाँ उपमा तथा अतिशयोक्ति अलङ्कारो की ससृष्टि है ।

भावार्थ—क्षणमात्रमेव यावद् गौरो मुनिः श्यामश्च हरिः जनैः स्थितौ दृष्टावभूताम्, तावत् पुराणपुरुषः श्रीकृष्णः स्वहस्तेन कल्पिते आसने नारदम् उपवेशयामास ।

महामहानीलशिलारुचः पुरो निषेदिवान्कंसकृष स विष्टरे ।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥ १६ ॥

अन्वय—महामहानीलशिलारुचः कंसकृषः पुरो उच्चकैः विष्टरे निषेदिवान् स अभिसाय श्रितोदयाद्रेः चन्द्रमसः अभिरामताम् अचूचुरत् ।

अर्थ—बडे महानील मणि के समान कान्ति वाले कंसारि भगवान् कृष्ण के सम्मुख ऊँचे आसन पर बैठे हुए नारद जी सायंकाल में उदयाचल पर स्थिर चन्द्रमा की सुन्दरता चुरा रहे थे—चन्द्रमा के समान सुशोभित हो रहे थे ।

महामहेति ॥ महत्या महानीलशिलायाः सिंहलद्वीपसंभवेन्द्रनीलोत्पलस्य रुगिव रुग्यस्य तस्येत्युपमालंकारः । 'सिंहलस्याकरोद्भूता महानीलास्तु ते स्मृताः' इति भगवानगस्त्यः । कंसकृषा हरेः पुरोऽग्र उच्चकैरुन्नते विष्टर आसने । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । निषेदिवानुपविष्टवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुः । स मुनिरभिसायं सायंकालाभिमुखम् । अव्ययीभावसमासः । सायंकालस्य कार्ष्ण्यात्कृष्णोपमानत्वम् । श्रित आश्रित उदयाद्रिरुदयाचलो येन तस्य चन्द्रमसोऽभिरामतां शोभामचूचुरच्चोरितवान् । प्राप्तवानित्यर्थः । 'चुर स्तेये' 'णिश्रि—' इति चङ् । 'अन्यस्यान्यधर्मसंबन्धसंभवाच्चन्द्रमसोऽभिरामतामिवाभिरामताम्' इत्यौपम्यपर्यवसानादसंभवद्वस्तुसंबन्धरूपो निदर्शनाभेदः स चोक्तोपमयाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ॥

व्याकरण—महामहानीलशिलारुचः=महानीला चासौ शिला च इति महानीलशिला (कर्मधा०) । महती महानीलशिला इति महामहानीलशिला

(कर्मधा०)। तस्याः रुक् इव रुक् यस्य सः महामहानीलशिलारुक् (ब० ब्री०)। तस्य।

निषेदिवान्=नि+सद्+क्वसु "भाषाया सदवसश्रुवः ३।२।१०८" नियम से निष्ठा अर्थात् भूत अर्थ मे क्वसु (वस्) प्रत्यय लगा है।

कंसकृष=कंस कृष्टवान् इति कंसकृट् (कंस+कृष्+क्विप् कर्तरि) उप० तत्पु०, तस्य।

विष्टरे=विस्तीर्य्यते इति विष्टरः, । (वि+स्तृ+अप् कर्मणि), तस्मिन्। यहाँ "वृक्षासनयोर्विष्टरः ८।३।९३" नियम से षत्व हुआ।

श्रितोदयाद्रेः=उदयस्य अद्रिः इति उदयाद्रिः (ष० तत्पु०), श्रितः उदयाद्रिः येन स श्रितोदयाद्रिः (ब० ब्री०), तस्य।

अभिसायम्=सायम् अभि इति अभिसायम् (अव्ययीभावः)।

अचूचुरत्=चुर्+णिच्+लुङ् तिप्।

अभिरामताम्=अभि+रम्+घञ् करणे (अधिकरणे वा), तस्य भावः अभिरामता (अभिराम+तल्+टाप्), ताम्।

कोष—विष्टरः="विष्टरो विटपी दर्भ-मुष्टिः पीठाद्यमासनम्" इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ एक का धर्म दूसरे के साथ सम्बन्धित किया गया है, जो स्वय असम्भव है। अतः इसका पर्यवसान उपमा में करना होगा, अर्थात् चन्द्रमा की अभिरामता की-सी अभिरामता इत्यादि। इस प्रकार यह असम्भवद्वस्तुसम्बन्ध रूप निदर्शना अलंकार हुआ। और यह निदर्शना महामहानीलशिलारुचः में कही हुई उपमा का अङ्ग है। अतः यहाँ निदर्शना तथा उपमा का सकर माना जायगा।"

भावार्थ—श्यामकान्तेः श्रीकृष्णस्य सम्मुखे उच्चैरासने उपविष्टो गौरो देवर्षिः सायंसमये उदयगिरौ वर्तमानः (पूर्ण—) चन्द्र इव रेजे।

विधाय तस्यापचितिं प्रसेदुषः प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः ।
ग्रहीतुमार्यान्परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः ॥ १७ ॥

अन्वय—यज्वना प्रियः प्रसेदुषः तस्य अपचितिं विधाय प्रकाममप्रीयत । महानुभावाः आर्यान् परिचर्यया मुहुः ग्रहीतुं नितान्तम् अर्थिनः (भवन्ति) हि ।

अर्थ—यज्ञ करने वालो के प्रिय भगवान् कृष्ण प्रसन्नचित्त उन नारद जी की पूजा करके अत्यन्त प्रसन्न हुए । महात्मा लोग श्रेष्ठ पुरुषों को अपनी सेवा से बार-बार वश मे करने के विशेष इच्छुक रहते ही है ।

विधायेति ॥ यज्वानो विधिनेष्टवन्तः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमर । 'सुयजोः—' इति यजिधातोर्ङ्वनिप् । तेषां प्रियो हरिः प्रसेदुषः प्रसन्नस्य । 'सदेः क्वसुः' इत्युक्तम् । तस्य मुनेरपचितिं पूजाम् । 'पूजा नमस्यापचितिः' इत्यमरः । विधाय विशेषेण मनोवाक्कायकर्मभिस्तत्परतया कृत्वा प्रकाममत्यर्थ-मप्रीयत प्रीतोऽभूत् । प्रीयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । मुनिपूजायाः प्रीतिहे-तुत्वेऽर्थान्तरं न्यस्यति—महानुभावा महात्मान आर्यान्पूज्यान्परिचर्यया मुहुर्ग्रहीतुं वशीकर्तुम् 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' इतीटो दीर्घः । नितान्तमर्थिनोऽभिलाषवन्तो हि भवन्ति । अर्थनमर्थोऽभिलाषः स एषामस्तीति मत्वर्थ इनिर्न तु णिनिः । 'कृद्वृ-त्तस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसी' इति भाष्यात् ॥

व्यकरण—अपचितिम्=अप+चायृ (पूजानिशामनयोः)+क्तिन् (भावे) द्वि० एक० ।

प्रसेदुषः=प्र+सद्+क्वसु षष्ठी एक० ।

अप्रीयत=प्री+लङ् त कर्तरि ।

यज्वनाम्=विधिना इष्टवन्त इति यज्वानः (यज्+ङ्वनिप् भूते कर्तरि), तेषाम् । "सुयजोर्ङ्वनिप् ३।२।१०३" नियम से सु और यज् धातु में 'भूत' अर्थ में ङ्वनिप् लगता है ।

महानुभावाः—महान् अनुभावः (तेजः) येषां ते ।

अर्थिन = अर्थः अस्ति एषाम् इति अर्थिनः (अर्थ + इनिः मत्वर्थे) । विशेष सर्वङ्कषा मे देखिये ।

कोष—अपचिति = श्लोक १४ मे 'सपर्या' का कोष देखिये ।

परिचर्या—वरिवस्यातु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासना इत्यमरः ।

अलङ्कार—यहाँ सामान्यरूप उत्तरार्ध के द्वारा विशेषरूप पूर्वार्ध का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

भावार्थ—प्रसन्नमानसस्य नारदस्य पूजा विधाय श्रीकृष्णोऽतितरा सन्तुतोष । गृहागतान् सत्पुरुषान् पूजयितु महापुरुषाः सदैव अभिलषन्ति ।

अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिताः ।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः ।।१८ ।।

अन्वय—हरिः अशेषतीर्थोपहृताः ऋषिणा कमण्डलोः पाणौ निधाय अभ्युदीरिताः, अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीः अपः नतेन मूर्ध्ना अग्रहीत् ।।

अर्थ—भगवान् कृष्ण ने समस्त तीर्थों से लाये गए, देवर्षि द्वारा कमण्डल से हाथ में लेकर छिडके गए तथा पापो को विध्वस्त करने मे समर्थ जल को नत शिर से ग्रहण किया ।

अशेषेति ।। अशेषेभ्यस्तीर्थेभ्य उपहृता आहृतास्तथा पाणौ निधाय । कमण्डलोरुदकपात्रादुद्धृत्य पाणौ निधायेत्यर्थः । क्रियान्तराक्षिप्तक्रियापेक्षया कमण्डलोरपादानत्वम् । 'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरः । ऋषिणाभ्युदीरिता आक्षिप्ता अतएवाघौघानां पापसमूहाना विध्वसविधौ विनाशकरणे पटीयसीः समर्थतराः । पटुशब्दादीयसुनि 'उगितश्च' इति ङीप् । अपो जलानि हरिर्नतेन मूर्ध्नाग्रहीत्स्वीकृतवान् । ग्रहेलुङ् ।।

व्याकरण—अशेषतीर्थोपहृताः = अविद्यमानः शेषः एषां तानि अशेषाणि (ब० व्री०) । अशेषाणि तीर्थानि अशेषतीर्थानि (कर्मधा०) । तेभ्यः उपहृताः इति अशेषतीर्थोपहृताः (सुप्सुपा), ताः ।

अभ्युदीरिता=अभि+उद्+ईर्+णिच् स्वार्थे+क्त कर्मणि।

अघौघविध्वसविधौ=अघानाम् ओघः इति अघौघः (ष० तत्पु०), तस्य विध्वंसः (ष० तत्पु०), तस्य विधिः अघौघविध्वसविधिः (ष० तत्पु०), तस्मिन्।

पटीयसी=अतिशयेन पट्व्यः पटीयस्यः (पट्वी+ईयसुन् ङीप्), ताः

अग्रहीत्=ग्रह्+लुङ् तिप्।

कोष—ओघ —"समूहो निवहव्यूहसन्दोहविसरव्रजाः
स्तोमौघनिकरव्रातवारसघातसचयाः।" अमरः

मूर्धन्='उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः

भावार्थ—देवर्षिः स्वकीयात् कमण्डलोः पापविनाशकं तीर्थजलं पाणौ निधाय अभिमन्त्र्य च तेन हरिम् अभ्युक्षितवान् सोऽपि नतमूर्धा सन् तज्जलमग्रहीत्।

स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया नवाम्बुदश्यामवपुर्न्यविक्षत।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं सुमेरुशृङ्गस्य तदा तदासनम्॥ १६

अन्वय—तदा नवाम्बुदश्यामवपुः सः मुनेः अनुज्ञया यत्र काञ्चने न्यविक्षत, तत् आसनं जम्बूजनितश्रियः सुमेरुश्रृङ्गस्य श्रिय जिगाय।

अर्थ—उस समय नवीन मेघ के समान श्यामशरीर भगवान् कृष्ण नारद मुनि की अनुमति से जिस सुनहले आसन पर बैठे, उस आसन ने जामुन के फलों से सुशोभित सुमेरुशिखर की शोभा जीत ली।

स काञ्चनेति॥ नवाम्बुदश्यामतनुः स हरिर्मुनेरनुज्ञया काञ्चने काञ्चनविकारे वैकारिकोऽण्प्रत्ययः। यत्रासने न्यविक्षतोपविष्टवान्। निपूर्वकविशो लुङि'नेर्विशः' इत्यात्मनेपदे'शल इगुपधादनिटः क्सः'। तदासनं तदा ह्युपवेशनसमये जम्बूर्नीलफलविशेषः। 'जम्बूः सुरभिपत्रा च राजजम्बूर्महाफला' इत्यभिधानरत्नमालायाम्। तया जनिता श्रीर्यस्य तत्तथोक्तस्य भाषितपुंस्कत्वात्पक्षे पुंवद्भावान्नुमभावः सुमेरुशृङ्गस्य श्रियं जिगाय अभिभावितवानित्यर्थः। 'सन्लिटोर्जेः' इति कुत्वम् उपमानुप्रासयोः ससृष्टिः॥

व्याकरण—काञ्चने—काञ्चनस्य विकारः इति काञ्चनम् (काञ्चन+अण्), तस्मिन् ।

नवाम्बुदश्यामवपुः—अम्बु ददाति इति अम्बुदः (अम्बु+दा+क कर्तरि) उप० तत्पु ०। नवश्चासौ अम्बुदश्चेति नवाम्बुदः (कर्मधा०) स इव श्याम वपुर्यस्य सः (ब० ब्री०)

न्यविक्षत—नि+विश्+लुङ् त कर्तरि । यहाँ विश् धातु, पूर्व मे नि उपसर्ग होने के कारण "नेर्विशः" नियम से आत्मनेपदी हो गई है ।

जिगाय—जि+लिट् (णल्) । विशेष सर्वङ्कषा मे ।

जम्बूजनितश्रियः—जम्बुभिर्जनिता इति जम्बूजनिता (तृ० तत्पु०) तादृशी श्रीर्यस्य तत् जम्बूजनितश्रि (ब० व्री०), तस्य । यह सुमेरुश्रृङ्गस्य का विशेषण है जो नपुसकलिङ्ग है

कोष—सुमेरु—'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः" इत्यमरः ।

अलङ्कार—यहाँ उपमा तथा अनुप्रास की ससृष्टि है ।

भावार्थ—नवजलधरकान्तौ भगवति कृष्णे तस्मिन् स्वर्णमये आसने समुपविष्टे तदासन श्यामजम्बूसमन्वित सुमेरुश्रृङ्गमिव बभौ ।

स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः ।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः ॥२०॥

अन्वय—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः, कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः सः वाडवजातवेदसः शिखाभिः आश्लिष्टः अम्भसा निधिः इव विदिद्युते ।

अर्थ—तपाये गए सोने के समान चमकते हुए (अर्थात् पीत) वस्त्र वाले एव पूर्ण चन्द्र के कलक की सी कान्ति वाले वे भगवान् कृष्ण वाडवाग्नि की लपटो स व्याप्त जलनिधि के समान सुशोभित हुए ।

स तप्तेति ॥ तप्त पुटपाकशोधित कार्तस्वरं सुवर्णम् । 'रुक्म कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तद्वद्भास्वर दीप्यमानमम्बर यस्य सः । पीताम्बर इत्यर्थः । कठोरताराधिपस्य पूर्णेन्दोर्लाञ्छनस्य छविरिव छविर्यस्य स इत्युपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । स हरिर्वाडवजातवेदसो वाडवाग्नेः शिखाभिर्ज्वालाभिराश्लिष्टो व्याप्तोऽम्भसा निधिरिव समुद्र इव विदिद्युते बभौ ॥

व्याकरण—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः—तप्त च तत् कार्तस्वर चेति तप्तकार्तस्वरम् (कर्मधा०) । तदिव भास्वरम् (भास्+वरच् कर्तरि) इति तप्तकार्तस्वरभास्वरम् (उपमान कर्मधा०) तादृशम् अम्बर (वस्त्रमित्यर्थः) यस्य सः तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः (ब०व्री०) ।

कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः—ताराणाम् अधिपः ताराधिपः (ष० तत्पु०) । कठोरश्चासौ ताराधिपश्च इति कठोरताराधिपः (कर्मधा०) । तस्य लाञ्छनम् (ष० तत्पु०), तस्य छविः इव छविर्यस्य सः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः (ब० व्री०) ।

विदिद्युते—वि+द्युत्+लिट् त ।

वाडवजातवेदसः—वडवाया भवः वाडवः (वडवा+अण्) । जातेषु विद्यते जात वेत्ति इति वा जातवेदाः (जात+विद्+असुन् कर्तरि), वाडवो यो जातवेदा वाडवजातवेदाः (कर्मधा०) । तस्य । (भृगुवशी) और्व ने अपनी क्रोधाग्नि को समुद्र में डाल दिया था जो वहाँ अब भी वडवा के मुखाकार वाली चट्टान से जलती हुई दिखाई पड़ती है, ऐसी जनश्रुति है ।

आश्लिष्टः—आ+श्लिष्+क्त (कर्मणि) ।

निधिः—नि+धा+कि (अधिकरणे) ।



कोष-कार्तस्वर—"रुक्मं कार्तस्वर जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्" अमरः

कठोर—"कठोरौ पूर्णकठिनौ" हेमः

लाञ्छन—कलङ्काङ्कौ लाञ्छन च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम् ।"

अमरः

वाडव—'औौर्वस्तु वाडवो वडवानलः" इत्यमरः

जातवेदा:—"कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्" इत्यमरः ।

अलङ्कार—यहां उपमा अलङ्कार है ।

भावार्थ—पीताम्बरधरः श्यामवर्णो हरिर्वाडवाग्नेर्ज्वालाभिर्व्याप्तो जलनिधिरिव शुशुभे ॥

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे ।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥२१॥

अन्वय—रथाङ्गपाणेः रोचिषा पटलेन संवलिताः ऋषित्विषः नक्तं तरोः चलत्पलाशान्तरगोचराः तुषारमूर्तेः अंशव इव विरेजिरे ।

अर्थः—चक्रपाणि भगवान् श्रीकृष्ण जी के कान्तिपटल से मिली हुई नारद जी की कान्ति, रात मे वृक्षों के हिलते हुए पत्तों के बीच से दिखाई पडती हुई चन्द्रमा की किरणो की भाँति सुशोभित हुई ।

टिप्पणी—भगवान् की कान्ति श्यामल तथा नारद जी की श्वेत थी । अतएव कवि ने भगवान् की श्यामल कान्ति से मिश्रित नारद जी की श्वेत कान्ति मे रात्रिकाल मे पत्तो की श्यामल छाया से संवलित चन्द्रमा की प्रभा की उत्प्रेक्षा की है ।

रथाङ्गपाणेरिति ॥ रथाङ्ग चक्र पाणौ यस्य तस्य हरेः । 'प्रहरणाथभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति पाणेः परनिपातः । रोचिषा छवीनां पटलेन समूहेन

संवलिता ऋषित्विषो नक्त रात्रौ। सप्तम्यर्थेऽव्ययम्। तरोश्चलतां पलाशाना पत्राणामन्तराणि विवराणि गोचर आश्रयो येषा ते, तुषारा मूर्तिर्यस्य तस्येन्दोरंशव इव विरेजिरे चकाशिरे ॥

व्याकरण—रथाङ्गपाणे :—रथस्य अङ्ग रथाङ्गम् (ष० तत्पु०), रथाङ्ग पाणौ यस्य स रथाङ्गपाणिः (ब० व्री०), तस्य। बहुव्रीहि समास में "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ (वा०)" अर्थात् निष्ठा (क्तक्तवतु) तथा सप्तम्यन्त पद शस्त्रवाचक पद के पश्चात् रक्खे जाते है।" इस नियम के अनुसार यहाँ रथाङ्ग (चक्र) के बाद पाणि (सप्तम्यन्त) रक्खा गया।]

ऋषित्विष : -ऋषेः त्विषः (ष० तत्पु०)

संवलिता :—सम्+वल्+क्त कर्मणि+टाप्।

विरेजिरे—वि+रज्+लिट् झ।

चलत्पलाशान्तरगोचरा :—गावः (इन्द्रियाणि) चरन्ति अस्मिन्निति गोचरः (गो+चर+घञ् अधिकरणे गोचरसञ्चरेत्यादिनियमान्निपातनम्) (उप० तत्पु०), चलन्ति (चल्+शतृ) पलाशानि चलत्पलाशानि (कर्मधा०)। तेषाम् अन्तराणि चलत्पलाशान्तराणि (ष० तत्पु०),तान्येव गोचरः येषां ते चलत्पलाशान्तरगोचराः (ब० व्री०)।

तुषारमूर्ते :—तुषारस्य मूर्तिः इव मूर्तिर्यस्य स तुषारमूर्तिः (ब० व्री०), तस्य।

कोष—रथाङ्ग"=चक्र रथाङ्गम्"—अमरः

पटल—"छदिर्नेत्ररुजोः क्लीबं समूहे पटल न ना" अमरः

त्विष्—"कान्तौ वाचि रुचौ त्विट् स्त्री"—रभसः

पलाश—पत्र पलाश छदन दलं पर्ण छदः पुमान्" - अमरः

तुषार—"अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिन हिमम्"—अमरः

नक्तम्—"अथ दोषा च नक्तं च रजनाविति"—अमरः

अंशवः—"किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः"—अमरः

अलंकार—यहाँ वाच्योत्प्रेक्षा अलंकार है—"भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता। वाच्येवादिप्रयोगे स्यात्—"साहित्य-दर्पण।

भावार्थ—यथा निशि वृक्षपत्राणामन्तरालमार्गैरन्तःप्रविष्टाश्चन्द्रकिरणास्तिमिरसङ्गताः सन्तः क्वचिच्छुभ्राः क्वचिच्छ्यामाश्चेति राजन्ते तथैव कृष्णस्य श्यामेन तेजसा मिलितं मुनेर्धवलं धाम सुतरां शुशुभे।

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः।
परस्परेण च्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः॥ २२ ॥

अन्वय—तदा शुभैः प्रफुल्लतापिच्छनिभैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिश्च अभीषुभिः परस्परेण च्छुरितामलच्छवी तौ एकवर्णौ इव बभूवतुः॥

अर्थ:—खिले हुए तमाल पुष्प के समान श्याम तथा सप्तपर्ण (सतवन) के पुष्प-पराग के समान पीतगौर माङ्गलिक किरणों से परस्पर रञ्जित कान्ति वाले भगवान् कृष्ण तथा नारद जी उस समय मानों एक रंग के हो गये।

प्रफुल्लेति॥ प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं विकसितम्, 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यजन्तम्। फलेर्निष्ठायाम् 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निपातनात्प्रफुल्लमित्येवेति क्षीरस्वामी। तापिच्छस्य तमालस्य पुष्पं तापिच्छम्। 'फले लुक्' इति तद्धितलुक्। द्विहीनं प्रसवे सर्वम् इति नपुंसकत्वम्। 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः। तेन सदृशैः प्रफुल्लतापिच्छनिभैः। नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः। अत एव 'स्युरुत्तरपदे त्वमी' इति, निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः। 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः। संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवदित्युक्तं भाष्ये। शेषं तापिच्छवत्।

तस्य पुष्पाणि सप्तच्छदानि तेषां पासुवत्पाण्डुभिः शुभ्रै रभीषुभिरन्योन्यरश्मिभिः 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इति शाश्वतः। परस्परेण छुरिते रूषितेऽमले छवी अन्योन्यकान्ती ययोस्तौ। छव्योरभीषूणामवयवावयविभावाद्भेदनिर्देशः। तौ हरिनारदौ तदैकवर्णाविव बभूवतुः। उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणो गङ्गा-यमुनासगम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायः कश्चिदेको वर्णः प्रादुर्बभूव तन्निमित्ता चेयमनयोरेकवर्णत्वोत्प्रेक्षा ॥

व्याकरणम्—**प्रफुल्लतापिच्छनिभैः**—प्रफुल्लति इति प्रफुल्लम् (प्र+फुल्ल+अच् कर्तरि) (प्रादि तत्पु०)। (विशेष सर्वङ्कषा मे)। प्रफुल्लं च तत् तापिच्छं च प्रफुल्लतापिच्छम् (कर्मधा०)। तेन सदृशाः प्रफुल्लतापिच्छनिभाः (अस्वपदविग्रहनित्यसमास)।

सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः—सप्तच्छदस्य पासवः सप्तच्छदपासवः (ष० तत्पु०), त इव पाण्डवः सप्तच्छदपासुपाण्डवः (उपमान कर्मधा०), तैः।

छुरितामलच्छवी—छुरिते (छुर+क्त कर्मणि+टाप्) अमले छवी ययोः तौ छुरितामलच्छवी (त्रिपद ब० व्रो०)।

एकवर्णौ—एको वर्णो ययोस्तौ एकवर्णौ (ब० व्री०)।

कोष—तापिच्छ="कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपीत्यमरः।

अलंकार—भगवान् की श्यामल कान्ति तथा नारद जी की शुभ्र कान्ति के परस्पर मिल जाने से गङ्गा-यमुना के सङ्गम की भाति दोनो की एक ही सी कान्ति प्रतीत होती है। अतः दोनों के एक ही वर्ण की सम्भावना करने से यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

भावार्थ—हरेः श्यामत्वम् ऋषेश्च शुभ्रत्वमिति रागद्वयम् परस्परसम्मिश्रणेन एकमेव प्रतीयते स्म।

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः ॥ २३ ॥

अन्वय—युगान्तकालप्रतिसहृतात्मनः कैटभद्विषः यस्यां तनौ जगन्ति सविकासम् आसत, तत्र (एव) तपोधनाभ्यागमसभवा मुदः न ममुः ।

अर्थः—प्रलय काल मे सब को अपने मे समेट लेने वाले, कैटभ को मारने वाले भगवान् कृष्ण के जिस शरीर मे सविस्तार सारे लोक स्थित थे, उसी मे नारद मुनि के आगमन से उत्पन्न आनन्द नही समा सका ।

युगान्तेति ॥ युगान्तकाले प्रतिसहृतात्मनः आत्माप्युपसहृता आत्मानो जीवा येन तस्य कैटभद्विषो हरेर्यस्यां तनौ जगन्ति सविकास सविस्तरमासता-तिष्ठन् । 'आस उपवेशने' लङ् । तत्र तनौ देहे तपोधनाभ्यागमेन सभवन्तीति संभवाः संभूताः । पचाद्यच् । मुदः संतोषा न ममुः । अतिरिच्यन्ते स्मेत्यर्थः । चतुर्दशभुवनभरणपर्याप्ते वपुषि अन्तर्न मान्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धातिशयेन स्वतःसिद्धस्याभेदेनाध्यवसितातिशयोक्तिः, सा च मुदामन्तःसबन्धेऽप्यसबन्धोक्त्या संबन्धासंबन्धरूपा ॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः—युगस्य अन्तः युगान्तः (ष० तत्पु०) तस्य कालः (समयः) युगान्तकालः (ष० तत्पु०) । युगान्तकाले प्रतिसहृताः (प्रति+सम्+हृ+क्त कर्मणि) आत्मानः (जीवाः) येन सः युगान्तकालप्रति-संहृतात्मा (ब० व्री०), तस्य । अथवा, युगान्तकाले प्रतिसंहृतः (संकोचितः) आत्मा (स्वदेहः) येन सः, तस्य ।

आसत—आस्+लङ् झ ।

ममुः—मा+लिट् झि ।

कैटभद्विषः—कैटभ द्वेष्टि इति कैटभद्विट् (कैटभ+द्विष्+क्विप् कर्तरि), तस्य ।

तपोधनाभ्यागमसम्भवाः—तपः धन यस्य स तपोधनः (ब० व्री०), तस्य अभ्यागमः (अभि+आ+गम्+अप् भावे) तपोधनाभ्यागमः (ष० तत्पु०), तेन सम्भवाः (सम्+भू+अच् कर्तरि+टाप्) तपोधनाभ्यागमसम्भवाः (सुप्-सुपा०)।

मुदः—मुद्+क्विप् कर्तरि।

कोषः—"आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि" विश्वः।

मुदः—"मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसमदाः" अमरः।

अलंकार—यहाँ सम्बध मे असम्बध रूप अतिशयोक्ति अलङ्कार है क्योकि चतुर्दश भुवनो को धारण करने मे समर्थ भी हरि के उदर मे हर्ष के न समाने की उक्ति कविप्रौढोक्ति द्वारा व्यक्त की गई है। वास्तव मे उस उदर मे वह हर्ष भी समा ही जाता है।

भावार्थ—प्रलयवेलायां समस्तजगदाधारयोग्येऽपि हरेर्वपुषि तदा देवर्षेरागमनाज्जनितो हर्षोद्रेकः मातुं न प्रबभूव।

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ॥२४॥

अन्वय—निदाघधामानम् इव अधिदीधितिं मुनिम् अभि मुदा विकासम् उपेयुषी अधिश्रितश्रिणी विलोचने बिभ्रत् स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत्।

अर्थ—सूर्य के समान देदीप्यमान नारद मुनि के समक्ष हर्ष से विकसित एवं सुशोभित नेत्रो को धारण किये हुये भगवान् कृष्ण स्पष्ट ही पुण्डरीकाक्ष—कमलनयन-ज्ञात हो रहे थे।

टिप्पणी—नारद जी के आगमन से उत्पन्न हर्ष से भगवान् के नेत्र खिल उठे थे। नारद जी परम तेजस्वी होने के कारण सूर्य से प्रतीत हो रहे थे। सूर्य के सम्मुख होते ही कमल खिल जाते हैं। अतः उस समय भगवान् के हर्ष-विकसित नेत्र कमल-से लग रहे थे और उनके 'पुण्डरीकाक्ष' नाम की सार्थकता स्पष्ट प्रकट हो रही थी।

निदाघेति ॥ निदाघमुष्णं धाम किरणा यस्य तथोक्तम्। 'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति विश्वः। अर्कमिवाधिदीधितिमधिकतेजसं मुनिमभिलक्ष्य। 'अभिरभागे' इति लक्षणे कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'। मुदा विकासमुपेयुषी उपगते। क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः। अतएवाधिश्रिता प्राप्ता श्रीर्याभ्या ते तथोक्ते। 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमागमः। विलोचने बिभ्रत्। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः। स हरिः पुण्डरीकाक्ष इत्येवं स्फुटोऽभवत्। सूर्यसन्निधाने श्रीविकासभावादक्ष्णा पुण्डरीकसाधर्म्यात्। पुण्डरीके इवाक्षिणी यस्येत्यवयवार्थलाभे पुण्डरीकाक्ष इति व्यक्तम्। अन्वर्थसंज्ञोऽभूदित्यर्थः। बिभ्रत्स्फुटोऽभवदिति पदार्थहेतुकस्य काव्यलिङ्गस्य निदाघधामानमिवेत्युपमासापेक्षत्वादनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः।

व्याकरण—निदाघधामानम्=नितरां दह्यते अनेन इति निदाघम् (नि+दह्+घञ् करणे) निदाघं धाम यस्य स निदाघधामा (ब० व्री०), तम्। अधिदीधितिम्—अधिगताः दीधितयः येन स अधिदीधितिः (ब० व्री०), तम्। यहाँ 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' अर्थात् 'प्र इत्यादि के अनन्तर आने वाले कृदन्त पद का दूसरे पद के साथ बहुव्रीहि समास बनता है और विकल्प से उसका लोप हो जाता है'—इस नियम से समास बना है। विकासम्—वि+कस्+घञ् भावे। मुनिम्—यहाँ अभि के योग मे द्वितीया हुई है। जब अभि से लक्षण, इत्थम्भूताख्यान अथवा वीप्सा द्योतित होती है तो अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है—("अभिरभागे १/४/९१" (और कर्मप्रवचनीय के योग मे "कर्मप्रवचनीय युक्ते द्वितीया २/३/८" नियम से

भगवान् के शुभ्र दन्त चन्द्रमा के समान। उनकी दन्त-पंक्ति से बिखरती हुई किरणें नारद जी के शुभ्र शरीर को और भी उज्ज्वल बना रही थी जैसे चन्द्रमा राजभवन को अपनी शुभ्र किरणों से दीप्तिमान् कर रहा हो।

सितमिति ॥ अथोभयोरुपवेशनानन्तरमच्युतो हेतुकर्ता। विसारिभिरभीक्ष्णं प्रसरद्भिः। बहुलमाभीक्ष्ण्ये'इति णिनिः द्विजावलिर्दन्तपङ्क्तिः 'दन्तविप्राण्डजाः द्विजाः' इत्यमरः। सैव व्याजः कपटं यस्य सः। तद्रूप इत्यर्थः। स चासौ निशाकरश्च तस्यांशुभिः किरणैः सितं स्वभावशुभ्र मुनेर्वपुः सौध प्रासादमिव सुतरामत्यन्तम् अव्ययाद्धादाम्प्रत्ययः। सितिम्ना धावल्येन प्रयोज्यकर्त्रा लम्भयन्व्यापारयन्। अतिधवलयन्नित्यर्थः। लभेरत्र गत्युपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वात् 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना अणि कर्तुर्न कर्मत्वम्। यथाह वामनः— 'लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे' इति। प्राप्त्युपसर्जनगत्यर्थत्वे तु कर्मत्वमेवेति रहस्यम्। 'लभेश्च' इति नुमागमः। शुचिस्मिता वाचमवोचदुक्तवान्। ब्रुवो वच्यादेशः लुङ् 'वच उम्' इत्युमागमे गुणः। अत्र सौधमिवेत्युपमायाः सितिम्ना लम्भयन्नित्यसंबन्धरूपातिशयोक्तेः द्विजावलिव्याजनिशाकरेति छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपाह्नवस्य च मिथो नैरपेक्ष्यात्संसृष्टिः ॥

व्याकरण—सितिम्ना = सित + इमनिच् भावे + तृतीया एकवचन सुतराम् — सु + तर + आमु— 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११ नियम से। विसारिभिः—वि + सृ + णिनिः कर्तरि + तृतीया बहुवचन। लम्भयन्—लभ + णिच् + शतृ —''लभेश्च ७।१।६४ नियम से लभ को नुम् का आगम होता है—विशेष सर्वङ्कषा मे द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः—द्विजानाम् दन्तानाम् अवलिः द्विजावलिः (ष० तत्पु०)। द्विजावलिः व्याजः यस्य स द्विजावलिव्याजः (ब० व्री०)। स एव निशाकरः द्विजावलिव्याजनिशाकरः (कर्मधा०) तस्य अंशवः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशवः (ष० तत्पु), तैः शुचिस्मिताम्—शुचि स्मितं यस्याः सा शुचिस्मिता ब० व्री०), ताम्।

अवोचत्—ब्रू+लुङ्+तिप्—यहाँ 'ब्रुवोर्वचिः २।४।५३ से ब्रू के स्थान मे वच् आदेश हो जाता है तथा "वच उम् ७।४।२० से वच् को उम् का आगम होता है ।

कोष—वपुः=गात्र वपुः सहनन शरीर वर्ष्म विग्रहः—अमरः । सौधम्—सौधोऽस्त्री राजसदनम्—अमरः । द्विजः—द्विजः स्याद् ब्राह्मणक्षत्रवैश्यदन्ताण्डजेषु ना—मेदिनी । व्याज—कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे अमरः।

अलंकार—यहाँ सौधमिव मे उपमा, सितिम्ना लम्भयन् मे असम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति, तथा द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः मे छल (व्याज) आदि शब्दो द्वारा असत्यत्व प्रतिपादनरूप अपह्नव इन तीन अलङ्कारो की ससृष्टि है—सर्वङ्कषा ।

भावार्थ—अथ हरिर्वाचमाददे । तदा तस्य शुभ्रदन्ताना किरणैः नारदस्य धवलं वपुः ततोऽप्यधिकतर धवलिमान प्राप ।

हरत्यघ सप्रति, हेतुरेष्यतः शुभस्य, पूर्वाचरितैः कृत शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् २६

अन्वय—भवदीयदर्शन कालत्रितयेऽपि शरीरभाजा योग्यता व्यनक्ति (यतः) सम्प्रति अघं हरति, एष्यतः शुभस्य हेतुः, शुभैः पूर्वाचरितैः (च) कृतम् ।

अर्थः—आप का दर्शन शरीरधारियो (जीवो) की त्रैकालिक पवित्रता सूचित करता है क्योंकि यह वर्तमान के पापो को विनष्ट करता है, भविष्य के मङ्गल का कारण बनता है और भूत के शुभ कर्मों से प्राप्त होता है ।

हरतीति ॥ भवदीयदर्शन, शरीरभाजाम् । द्रष्टृणामित्यर्थः । 'भजो ण्विः' । कालत्रितये भूतादिकालत्रितयेऽपि योग्यता पवित्रता व्यनक्ति गमयति । कुतः—संप्रति दर्शनकाले अघं पाप हरति । एष्यतो भाविनः शुभस्य श्रेयसो हेतुः । तथा पूर्वाचरितैः प्रागनुष्ठितैः शुभैः सुकृतैः कृतम् । एवं त्रैकाल्येऽपि कार्यत्वेन कारणत्वेन च

पुंसि सुकृतसमवायमवगमयते । अत एतादृश दर्शनं कस्य न प्रार्थ्यमिति भावः । अत्र हरतीत्यादिना वाक्यत्रयस्यार्थस्य शरीरेत्यादिवाक्यत्रयोक्त्या वाक्यार्थ-हेतुककाव्यलिङ्गमलंकारः ॥

व्याकरण—एष्यतः—आ+इ+लृट् शतृ+षष्ठी एक० । पूर्वाचरितैः—पूर्वम् आचरितानि पूर्वाचरितानि (सुप्सुपा), तैः । शरीरभाजाम्—शरीरं भजन्ते इति शरीरभाजः (शरीर+भज्+ण्विः कर्तरि—"भजो ण्विः" ३/२/६२ नियम से) । व्यनक्ति–वि+अञ्ज्+लट् तिप् । कालत्रितये—त्रयः अवयवाः अस्य इति त्रितयम् (त्रि+तयप्) । कालानां त्रितयम् कालत्रितयम् (ष० तत्पु०), तस्मिन् । योग्यताम्—योक्तुम् अर्हः इति योग्यः (युज+ण्यत् कर्मणि) । तस्य भावः योग्यता, ताम् । अलंकार—यहाँ पूर्वार्द्ध के "हरत्यघम्" आदि तीनों वाक्य उत्तरार्द्ध के 'शरीरभाजाम्' आदि वाक्य के हेतु रूप से कहे गये है । अतः काव्यलिङ्ग अलंकार हुआ ।—सर्वङ्कषा ।

भावार्थः—भवदीयदर्शनं त्रिष्वपि कालेषु पुण्यवत्तां प्रकटयति, तथाहि-भूते नूनं सुकृतम् आचरितमासीत् यस्य फलमेतद्दर्शनम्, वर्तमाने च समस्तपापौघ-विध्वंसकमेतत् तथा च भाविनि कालेऽपि भविष्यतः कल्याणस्य एतद् भवदीय-दर्शनमेव हेतुः ।

जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना न यन्नियन्तुं समभावि भानुना ।
प्रसह्य तेजोभिरसंख्यतां गतैरदस्त्वया नुन्नमनुत्तमं तमः ॥ २७ ॥

अन्वय—अपर्याप्तसहस्रभानुना जगति यन्नियन्तुं न समभावि, अदः अनुत्तमं तमः त्वया असंख्यतां गतैः तेजोभिः प्रसह्य नुन्नम् ॥

अर्थः—अपरिमेय सहस्रों किरणों वाले सूर्य के द्वारा (भी) (जो अज्ञानान्धकार)-

दूर नही किया जा सका; उसी सर्वप्रबल अन्धकार को आप ने अपने विविध तेज से बलपूर्वक नष्ट कर दिया।

जगतीति ॥ जगत्यपर्याप्ता अपरिच्छिन्नाः सहस्रं भानवोऽशवो यस्य तेन भानुनार्केण। 'भानवोऽर्कहराशवः' इति वैजयन्ती। यत्तमो नियन्तु निवारयितुं न समभावि न शेके। लुङ्। अविद्यमानमुत्तमं यस्मात्तदनुत्तमं सर्वाधिकमदस्तमो मोहात्मकमसंख्यतांगतैस्तेजोभिः प्रसह्य बलात्त्वया नुन्नं छिन्नम्। अतः श्लाघ्यदर्शनो भवानिति भावः 'नुदविद—'इत्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वाभावः। अत्रोपमानाद्भानोर्मुनेराधिक्यप्रतिपादनाद्व्यतिरेकालंकारः ॥

व्याकरण—अपर्याप्तसहस्रभानुना—न पर्य्याप्ताः। (परि+आप्+क्त कर्मणि) इति अपर्य्याप्ताः (नञ् तत्पु०)। अपर्य्याप्ताः सहस्रं भानवः (किरणाः) यस्य सः अपर्य्याप्तसहस्रभानुः (ब० व्री०), तेन। नियन्तुम्-नि+यम् +तुमुन्। समभावि सम्+भू+लुङ् त (भावे) असंख्यताम्— अविद्यमाना संख्या यस्य तत् असंख्यम् (ब० व्री०), तस्य भावः असंख्यता, ताम्। नुन्नम्—नुद्+क्त कर्मणि। यहाँ "नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्यो-ऽन्यतरस्याम्" ८।२।५६ अर्थात् नुद, विद्, त्रा, घ्रा तथा ह्री धातुओ मे निष्ठा के त को विकल्प से न होता है। इस नियम से 'नुन्न' रूप भी बनता है। अनुत्तमम्—अतिशयेन उत् इति उत्तमम् (उत्+तमप्)। अविद्यमानम् उत्तमं यस्मात् तत् अनुत्तमम् (ब० व्री०), तत्।

कोषः—भानुः = श्लोक २४ देखिये। तमः—'तमो ध्वान्ते गुणे शोके क्लीब वा ना विधुन्तुदे' मेदिनी।

अलंकार—यहाँ उपमान भानु से उपमेय मुनि का आधिक्य कहा गया है, अतः व्यतिरेक अलङ्कार है—'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा। व्यतिरेकः'- साहित्य-दर्पण।

भावार्थः—जगतो बाह्यं तमो रविः स्वकीयैरसंख्यकिरणै-

निरस्यति किन्तु यत्तमः तेनापि विनाशयितुं न शक्यते, तन्मोहात्मकम् आभ्यन्तरिक तमो भवतैव समुन्मूल्यते ।

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना ।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो निधिः श्रुतीना धनसंपदामिव ॥२८॥

अन्वय—प्रजाक्षेमकृता सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना प्रजासृजा गुरुः त्वम् धनसपदाम् इव श्रुतीना सदा उपयोगेऽपि अक्षयो निधिः कृतः ।

अर्थः—जैसे अपनी सन्तति (प्रजा) का कल्याण करने वाला तथा सुदृढ पात्र मे निधि रख कर निश्चिन्तता प्राप्त करने वाला पिता (प्रजासृजा) धनसम्पत्ति की अक्षय निधि बना जाता है, उसी प्रकार जगत् के जनो (प्रजा) का कल्याण करने वाले तथा सत्पात्र मे रख कर निश्चिन्तता प्राप्त करने वाले प्रजापति ब्रह्मा जी ने सर्वोपदेष्टा आप को श्रुतियो का सदा उपयोग (उपदेश) करते रहने पर भी समाप्त न होने वाला भण्डार बनाया है ।

कृतइति ॥प्रजाना जनानामपत्यानां च क्षेमकृता कुशलकारिणा । 'प्रजा स्यात्सततौ जने' इत्यमरः । सुपात्रे योग्यपुरुषे कटाहादिदृढभाजने च निक्षेपेण निधानेन च निराकुलात्मना स्वस्थचित्तेन । 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः । प्रजासृजा ब्रह्मणा पुत्रिणा च त्वं धनसपदामिव श्रुतीनां वेदाना सदोपयोगे दानभोगाभ्या व्ययेऽप्यक्षयः एकत्राम्नानादन्यत्र नित्याच्चेति भावः । गुरुरुपदेष्टा । सप्रदायप्रवर्तक इति यावत् । अन्यत्र महान् । निधीयत इति निक्षेपः कृतः । 'उपसर्गे घोः किः' । श्रुतिसंप्रदायद्वारा धर्माधर्मव्यवस्थापकतया जगत्प्रतिष्ठाहेतूनां भवादृशां दर्शनं कस्य न श्लाघ्यमिति भावः । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्याच्छ्लेषोऽयं प्रकृतविषय इत्याहुः ॥

व्याकरण—प्रजाक्षेमकृता=प्रजाना क्षेमः (ष० तत्पु०) । प्रजाक्षेमं कृतवान् प्रजाक्षेमकृत् (प्रजाक्षेम+कृ+क्विप् भूते कर्तरि) उपपदतत्पुरुषः, तेन । प्रजासृजा—प्रजाः सृष्टवान् इति प्रजासृट् (प्रजा+सृज्+क्विप् भूते

कर्तरि) (उप० तत्पु०), तेन। सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना शोभनं पात्रं सुपात्रम् (प्रादितत्पु०) तस्मिन् निक्षेपः (नि + क्षिप् + घञ् भावे) सुपात्रनिक्षेपः (सुप्सुपा)। निराकुलः आत्मा यस्य स निराकुलात्मा (ब० व्री०) सुपात्रनिक्षेपेण निराकुलात्मा इति सुपात्र० (सुप्सुपा), तेन। उपयोगे—उप + युज + घञ् भावे उपयोगः, तस्मिन्। अक्षयः—अविद्यमानः क्षयो यस्य स अक्षयः (ब० व्री०) निधिः—नि + धा + कि (अधिकरणे)। श्रुतीनाम्—श्रूयन्ते इति श्रु + क्तिन् कर्मणि श्रुतयः, तासाम्। धनसम्पदाम्—धनानां सम्पदः (सम् + पद् + क्विप् भावे) इति धनसम्पदः (ष० तत्पु०), तासाम्।

कोष—'प्रजा = प्रजा स्यात् सततौ जने' इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ उन्हों शब्दों द्वारा दो अर्थ निकलते हैं अतः श्लेष अलङ्कार है—शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्-सा०द०।

भावार्थ—प्रजाकल्याणकारिणा विधात्रा वीतचिन्तेन भवाँल्लोके श्रुतीना सम्प्रदायप्रवर्तको गुरुरवतारितः। श्रुतिसम्पत्तयश्च निरन्तर समुपयुज्यमाना अपि भवति अक्षया एव तिष्ठन्ति।

विलोकनेनैव तवामुना मुने कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥२९॥

अन्वय—हे मुने! निबर्हिताहसा तव अमुना विलोकनेनैव कृतार्थः कृतः अस्मि, तथापि अह गरीयसीः गिरः शुश्रूषुः अस्मि। अथवा श्रेयसि केन तृप्यते।

अर्थ:—हे मुनि! यद्यपि पाप को दूर करने वाले आप के इस दर्शन से

५

हीं मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, तथापि आप के सारगर्भित वचन सुनना चाहता हूँ। अपने कल्याण से भला किसे तृप्ति होती है ?

विलोकनेनेति॥ हे मुने, निर्बर्हिताहसापहृतपाप्मना अतएवामुना तव विलोकनेनैव कृतार्थः कृतोऽस्मि। तथाप्यह गरीयसीर्थवत्तराः।'द्विवचन' इत्यादिना ईयसुन्प्रत्ययः।'उगितश्च'इति ङीप्। 'प्रियस्थिर' इत्यादिना गुरोर्गिरादेशः। गिरस्तव वाचोऽपि शुश्रूषुः श्रोतुमिच्छुरस्मि। शृणोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। न चैतत्तथेत्याह—अथवा। तथाहीत्यर्थः। अथवेति पक्षोन्तरप्रसिद्ध्योरिति गणव्याख्यानात्। श्रेयसि विषये केन तृप्यते। न केनापीत्यर्थः। कृतार्थताया इयत्ताभावादिति भावः। भावे लिट्॥

व्याकरण—विलोकनेन—वि+लोक्+ल्युट् भावे। कृतार्थः—कृतः अर्थः यस्य सः कृतार्थः (ब० व्री०)। निबर्हिताहसा—निबर्हितम् (नि+बर्ह हिंसायाम्+क्त कर्मणि) अहः येन तत् निबर्हितांहः (ब० व्री०), तेन। शुश्रूषुः-श्रु+सन्+उ कर्तरि गरीयसीः—अतिशयेन गुर्व्यः इति गरीयस्यः (गुर्वी+ईयसुन्+ङीप्=गर्+ईयसुन्+ङीप्), ताः। श्रेयसि—अतिशयेन प्रशस्यम् इति श्रेयः (प्रशस्य+ईयसुन्=श्र+ईयसुन्—"प्रशस्यस्य श्रः" ५।३।६० से प्रशस्य के स्थान मे श्र आदेश होता है), तस्मिन्। तृप्यते—तृप्+लट् त+यक् भावे।

कोष--अहः—'कलुषं वृजिनैनोघमहोंदुरितदुष्कृतम्' इत्यमरः। श्रेयः—श्रेयो मुक्तौ शुभे धर्मेऽतिप्रशस्ते च वाच्यवत्, इति विश्वः।

भावार्थ—हेमुने! यद्यपि पापविनाशकेन तव अमुना दर्शनेनैव अह कृतकृत्यो जातः, तथापि मङ्गलमयी ते वाणीमपि श्रोतुमभिलाषो मयि जागर्त्येव। जनः प्रचुरमपि कल्याण प्राप्य सन्तोषं नैव लभत इति नैसर्गिकमेव।

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥३०॥

अन्वय—गतस्पृहः अपि आगमनप्रयोजनं वद इति वक्तुं यया (धृष्टतया) व्यवसीयते, तां धृष्टतां नः उदितात्मगौरवः तव एष गुरुः आगम एव तनोति।

अर्थः—यद्यपि आप निरीह है, तथापि अपने आगमन का कारण बताइये-- यह कहने के लिये जो धृष्टता मुझे उद्यत कर रही है, उसे हमारे गौरव को प्रकट करने वाला आप का यह महत्त्वपूर्ण आगमन ही प्रोत्साहित कर रहा है।

गतस्पृहोऽपीति ॥गतस्पृहो विरक्तोऽपि त्वमागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं यया धृष्टतया व्यवसीयत उद्यम्यते। स्यतेर्भावे लट्। उदितमुत्पन्नमुक्तं वा आत्मनो मम गौरवं येन स गुरुः श्लाघ्य एष तवागम आगमनमेव नोऽस्माकं तां धृष्टतां तनोति विस्तारयति। 'तनु विस्तारे' लट्। भवतो निःस्पृहत्वेऽपि प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनव्याप्त्या सावकाशः प्रश्नः इति भावः॥

व्याकरण—गतस्पृहः—गता स्पृहा यस्य स गतस्पृहः (ब० व्री०)। आगमनप्रयोजनम्—आगमनस्य प्रयोजनम् (प्र+युज+णिच्+ल्युट् करणे) इति आगमनप्रयोजनम् (ष० तत्पु०)। व्यवसीयते—वि+अव+सो+लट् त भावे। उदितात्मगौरवः—आत्मनि गौरवम् आत्मगौरवम् (सुप् सुपा)। उदितम् आत्मगौरवं येन यस्मात् वा स उदितात्मगौरवः (ब० व्री०)। आगमः—आ+गम्+अप् भावे। धृष्टताम्—धृष्+क्त कर्तरि=धृष्टः, स्य भावः धृष्टता, ताम्।

भावार्थः—सांसारिकविषयेभ्यो निस्स्पृहोऽपि भवान् मद्गृहम् आगत्य यन्मे गौरव वितीर्णवान् तदेव 'भगवन्! किम्प्रयोजनकमेतद् आगमनमिति' भवन्तं प्रष्टुमपि मा प्रोत्साहयति ।

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम त्वया ।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्तिकार्यं गुरुयोगिनामपि ॥३१॥

अन्वय—इति ब्रुवन्त त स व्रती उवाच—(हे) पुरुषोत्तम त्वया इत्थं न वाच्यम् । योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किं गुरु कार्यमस्ति ।

अर्थ—इस प्रकार कहते हुए उन भगवान् श्रीकृष्ण जी से नारद मुनि ने कहा—हे पुरुषोत्तम! आप ऐसा न कहे क्योंकि योगियो के भी तो साक्षात्कार (दर्शन) के विषय आप ही हैं। उन्हे भी इससे बढकर (महत्तर) कौन सा कार्य है?

इति ब्रुवन्तमिति॥ इति ब्रुवन्तं त हरिं स व्रती मुनिरुवाच। किमिति। हे पुरुषोत्तम पुरुषेषु श्रेष्ठ, 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासप्रतिषेधः। त्वया इत्थ 'गतस्पृहोऽपि' इति न वाच्यम्। निःस्पृहस्याप्यत्र प्रयोजनसंभवादिति भावः। तदेवाह। योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीयः प्रत्यक्षीकर्तव्य इत्यतोऽस्मादन्यद्-गुरु कार्यं किमस्ति। न किंचिदित्यर्थः। तस्मान्न प्रयोजनान्तरप्रश्नावकाश इति भावः।

व्याकरण—ब्रुवन्तम्—ब्रु+शतृ कर्तरि ब्रुवन्, तम्। व्रती—व्रतम् अस्ति अस्य व्रती (व्रत+इनिः मत्वर्थे)। वाच्यम्—वच्+ण्यत् (भावे, कर्मणोऽविवक्षया)। पुरुषोत्तमः—पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः (सुप्सुपा)। तत्सम्बुद्धौ, हे पुरुषोत्तम। साक्षात्करणीयः—साक्षात् कर्तव्यः इति साक्षात्-

करणीयः (साक्षात्+कृ+अनीयर् कर्मणि) (गतितत्पु०)—यहाँ "साक्षात्प्रभृतीनिच" १।४।७४ नियम से साक्षात् को विकल्प से गतिसञ्ज्ञा होती है। कार्य्यम्—कृ+ण्यत् कर्मणि। योगिनाम्—युज्+णिनिः कर्तरि योगिनः, तेषाम्।

भावार्थ—एव कथयन्त हरि नारदः प्रत्युवाच, हे पुरुषोत्तम सिद्धसमाधयो योगिनोऽपि त्वामेव साक्षात्कर्तुं यतन्ते, अतः त्वद्दर्शनाद् गुरुतर किमन्यत् प्रयोजन ममेहागमनस्य सम्भवेत्।

यदुक्त योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति तदेव द्रढयति—

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयातिदुर्गमम्।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसश्रया॥ ३२॥

अन्वय—उदीर्णरागप्रतिरोधक अभीक्ष्णम् अक्षुण्णतया जनैः अतिदुर्गमं मोक्षपथम् उपेयुषः मनस्विनः त्वम् (एव) निरपायसश्रया अग्रभूमिः (असि)।

अर्थ—उद्दीप्त विषयतृष्णा जिसमे प्रतिबन्धक (विघ्न) होती है और सतत अनभ्यस्त होने से लोगो के लिए जो दुर्गम है, उस मोक्षमार्ग को प्राप्त करने वाले मनस्वी पुरुषो के लिए आप ही वह गन्तव्य स्थान है जिसमे अविनाशिनी सम्यक् स्थिति प्राप्त हो जाती है। (अथवा आप ही वह गन्तव्य स्थान है जिसकी प्राप्ति से पुनरावृत्ति नही होती।)

टिप्पणी (i) प्रस्तुत श्लोक मे जिस अविनाशिनी सम्यक् स्थिति की ओर संकेत किया गया है, उसे ही योगादि शास्त्रो में स्वरूपावस्थान या स्वरूपप्रतिष्ठा कहा गया है। स्वरूप के अविनश्वर होने मे स्वरूपावस्थान भी अविनाशी होता है और अविनाशी होने से ही यह सम्यक् है।

(ii) मल्लिनाथ ने प्रतिरोधक, अक्षुण्ण, मोक्षपथ, निरपायसश्रया तथा अग्रभूमि पदो के क्रमशः पाटच्चर (चोर), अहत (जिस पर निरन्तर बहुत दिनों से न चला गया हो,) कान्तार (निर्जन मार्ग) तथा निर्बाधस्थान—ये अर्थ लेकर श्लोक को ध्वन्यात्मक माना है। यह ध्वनि इस प्रकार की है—जैसे किसी संकट से मुक्त हुआ कोई पुरुष निर्जन मार्ग से चलकर तथा किसी निर्बाध अथवा आपत्तिरहित स्थान मे पहुँचकर अभय प्राप्त करता है, उसी प्रकार सकटककारिणी विषयतृष्णा से छूटा हुआ साधक योगादि मोक्षमार्ग से चलकर तुम्हे प्राप्त कर जन्म मरण के भय से मुक्त हो जाता है।

उदीर्णरागेति॥ उदीर्ण उद्रिक्तो रागो विषयाभिलाषः स एव प्रतिरोधकः प्रतिबन्धकः पाटच्चरश्च यस्मिन्। 'प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलीम्लुचाः' इत्यमरः। अभीक्ष्णमक्षुण्णतयानभ्यस्तत्वेनाप्रतिहतत्वेन च जनैरतिदुर्गम मोक्षपथमपवर्गमार्गं, कान्तार चोपेयुषः प्राप्तवतः। 'उपेयिवान्—' इत्यादिना क्वस्वन्तो निपातः। मनस्विनः सुमनसः धीरस्य च। प्रशसायां विनिः। त्वमेव निरपायः पुनरावृत्तिरहितः सश्रयः प्राप्तिर्यस्याः सा तथोक्ता। 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतेः। अग्रभूमिः प्राप्यस्थानम्। 'अग्रमालम्बने प्राप्ये' इति विश्वः। 'सोऽहम्' इत्यादिश्रुतेस्तत्प्राप्तेरेव मोक्षत्वादिति भावः। तस्मान्मुमुक्षूणामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति सिद्धम्। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः। यथा कस्यचित्कुतश्चित्सकटान्निर्गतस्य केनचित्कान्तारेण गतस्य किंचिन्निर्बाधस्थानप्राप्तिरभयाय कल्पते तथा त्वमपि मुमुक्षोरिति ध्वनिः॥

व्याकरण—उदीर्णरागप्रतिरोधकम्—उदीर्णः √उद् + ॠ

गतौ क्र्यादिः + क्त कर्तरि) रागः। ((रञ्ज् + घञ् करणे) इति उदीर्णरागः (कर्मधा०)। सःप्रतिरोधक· यस्मिन् स उदीर्णरागप्रतिरोधकः (ब० व्री०), तम्। **अक्षुण्णतया**—न क्षुण्णः (क्षुद् + क्त कर्मणि) इति अक्षुण्णः (नञ् तत्पु०)। तस्य भावः क्षुण्णता, तया। **अतिदुर्गम**–अति + दुर् + गम् + खल् (कर्मणि) + द्वि० एक०। **उपेयुषः**—(देखिये १।२४ में अभ्युपेयुषी) **मोक्षपथम्**—मोक्षस्य पन्था इति मोक्षपथः (मोक्ष + पथिन् + अ—"ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" ५।४।७४ अर्थात् ऋच्, पुर्, अप्, धुर् (जो अक्षसम्बन्धिनी न हो) तथा पथिन् शब्द मे अन्त होने वाले समासों में समासान्त अ प्रत्यय लगता है—इस नियम से यहाँ अ प्रत्यय लगा है। **मनस्विनः**—प्रशस्तं मनः अस्ति अस्य इति मनस्वी (मनस् + विनिः मत्वर्थे), तस्य। मत्वर्थीय प्रत्यय अनेक अर्थों में होते है—"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। ससर्गेऽस्ति विवक्षाया भवन्ति मतुबादय.।" **अग्रभूमिः**—अग्रा चासौ भूमिश्च इति अग्रभूमिः (कर्मधा०)। **निरपायसंश्रया**–निर्गतः अपायः (अप + अय् + घञ् भावे) यस्मात् स निरपायः (ब० व्री०)। निरपायः संश्रयः (सम् + श्रि + अच् भावे) यस्याः सा निरापायसंश्रया (ब० व्री०)। यह विग्रह मल्लिनाथी टीका सर्वङ्कषा के अनुरोध से संश्रय का 'प्राप्ति' अर्थ ग्रहण करके किया गया है। परन्तु संश्रय का 'स्थिति' अर्थ ही सामान्यतः गृहीत होता है। उस अर्थ में उपर्युक्त विग्रह इस प्रकार होगा—निरपायः (अपायरहितः अविनश्वरः वा) संश्रयः (सम्यक् स्थितिः) यस्या सा।

भावार्थ—कामान् कथमपि परित्यज्य मोक्षमार्गमनुसरन्तो मुमुक्षवः परमलक्ष्यं त्वामेव प्राप्य विमुक्ता भवन्ति न च पुनरावर्तन्ते।

ननु प्रकृतिविविक्तपुरुषसाक्षात्कारान्मोक्षो नास्मत्साक्षात्कारादित्याशङ्क्य सोऽपि त्वमेवेत्याह—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथंचन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः॥ ३३॥

अन्वय—पुराविदः निगृहीतमानसैः अध्यात्मदृशा कथञ्चन गृहीत त्वाम् उदासितारं, बहिर्विकार, प्रकृतेः पृथक्, पुरातनं पुरुषं विदुः॥

अर्थ—पूर्वज्ञ (ऋषि-मुनि) चित्तवृत्ति का निरोध करने वाले योगियो से आध्यात्मिक (आन्तरिक) दृष्टि द्वारा किसी प्रकार साक्षात् किये गए आपको अनासंग (उदासीन), महदादि विकारों से परे एवं त्रिगुणात्मिका प्रकृति से भिन्न (विविक्त) पुराण पुरुष के रूप मे जानते हैं।

उदासितारमिति ॥ पुराविदः पूर्वज्ञाः कपिलादयस्त्वां निगृहीतमानसैरन्तर्निबद्धचित्तैर्योगिभिः आत्मनि इत्यध्यात्मम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'अनश्च' इति समासान्तष्टच्। अध्यात्मं याद्दक्ज्ञानं तयाध्यात्मदृशा प्रत्यग्दृष्ट्या कथंचन गृहीतं साक्षात्कृतम्। केन रूपेण गृहीतमित्यत आह—उदासितारमुदासीनम्। प्रकृतौ स्वार्थप्रवृत्तायामपि स्वयमप्राकृतत्वादस्पृष्टमित्यर्थः। आसेस्तृच्। विकारेभ्यो बहिः बहिर्विकारम्। महदादिभ्यः पृथग्भूतमित्यर्थः। 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इत्यव्ययीभावः। किंच प्रकृतेस्त्रैगुण्यात्मनो मूलकारणात्पृथग्भिन्नम्। 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणे' इति यादवः। पुरा भवं पुरातनमनादिम्। 'सायंचिरम्—'इत्यादिना ट्यु प्रत्ययः। पुरुषपदवाच्यं विज्ञानघनं विदुर्विदन्ति। 'विदो लटो वा' इति झेरुसादेशः। यथाहुः—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः॥' इति। 'अजामेका लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादिश्रुतिश्च। सोऽपि

त्वमेव 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यैरैक्यश्रवणात् । तस्मात्त्वमेव साक्षात्करणीय इति सुष्ठूक्तमिति भावः ॥

व्याकरणम्—**उदासितारम्**—उद्+आस्+तृच् (कर्तरि) उदासिता, तम् । **निगृहीतमानसैः**—मनः एव मानसम् (मानस्+अण् स्वार्थे) । निगृहीतं मानस यैः ते निगृहीतमानसाः (ब० व्री०), तैः । **अध्यात्मदृशा**—पश्यतीति दृक् (दृश्+क्विप् कर्तरि) । आत्मनि इति अध्यात्मम् (अधि+आत्मन्+टच्) (अव्य० भा०), अध्यात्मदृक् अध्यात्मदृक् (सुप् सुपा), तया । **बहिर्विकारम्**—विकारेभ्यो बहिः इति बहिर्विकारम् (अव्ययी०) । "अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या" २।१।१२ आर्थात् अप, परि बहिः तथा अञ्च् धातु से बने हुए प्रत्येक, प्राक् इत्यादि पद पञ्चम्यन्त पद के साथ समास बनाते हैं'—इस नियम से बहिः का विकारेभ्यःके साथ अव्ययीभाव समास बना है । **विदुः**—विद्+लट् झि। **पुरातनम्**—पुराभवः पुरातन. (पुरा+ट्यु) । नियम के लिये १। १५ देखिए । **पुराविदः**—पुरा विदन्ति इति पुराविदः (पुरा+विद्+क्विप् कर्तरि) (उप० तत्पु०) ।

कोष—**विकार**— = "परिणामो विकारो द्वे समविकृतिविक्रिये—अमरः

प्रकृति—प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः—हैमः ।

पुरुष—क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः—अमरः ।

भावार्थः—पूर्ववृत्तज्ञाः कपिलादयोमनीषिणः चित्तं वशीकृत्य महता यत्नेन त्वा साक्षात्कृत्य साङ्ख्यशास्त्रप्रतिपादितमहदादिविकारेभ्यः पृथक्त्वेन त्रिगुणात्मिकाया मूलकारणरूपायाः प्रकृतेश्च भिन्नत्वेन अपि च अनासङ्गपुरुषरूपेण जानन्ति ।

एवं भगवतो निर्गुणस्वरूपमुक्त्वा संप्रति प्रस्तुतोपयोगितया सगुणमाश्रित्य षड्भिः स्तौति—

निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः ।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥३४॥

अन्वय —जगत्त्रयैकस्थपतिः त्वं हेलया उद्धृत, फणाभृताम् ओकसः एकं छादन भूतलम् उच्चकैः अहीश्वरस्तम्भशिरःसु निवेशयामासिथ ।

अर्थ—तीनो लोको के एकमात्र शिल्पी (स्रष्टा) आप ने सहज ही उठाये हुए, नागलोक के एकमात्र आवरण इस भूतल को शेषनाग रूपी स्तम्भ के ऊँचे सिरो पर स्थापित किया था (रखा था) ।

निवेशयामासिथेति ।। जगत्त्रयस्यैकस्थपतिरेकाधिपतिरेकशिल्पी च । "स्थपतिरधिपतौ तक्षिण बृहस्पतिसचिवयोः' इति वैजयन्ती । त्वं हेलयोद्धृतम् । वराहावतारे इति भावः । फणाभृतामोकस आश्रयस्य, सद्मनश्च । 'ओकः सद्मनि चाश्रये' इति विश्वः । एकं छादनमावरणं भूतलमुच्चकैरुन्नतेषु च अहीश्वरः शेष एव स्तम्भस्तस्य शिरःसु मूर्धसु, अग्रेषु च । फणासहस्त्रेष्विति भावः । निवेशयामासिथ निवेशितवानसि । विशतेर्ण्यन्ताल्लिटि थल् । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यस्तेरनुप्रयोगः । अत्र श्लिष्टाश्लिष्टरूपकयोर्हेतुमद्भावात्श्लिष्ट परम्परितरूपम् ।

व्याकरण—निवेशयामासिथ—नि+विश्—णिच्+लिट् थल् । उद्धृतम्—उद्+धृ+क्त कर्मणि । फणाभृताम्—फणाः बिभ्रति इति (फणा+भृ+क्विप् कर्तरि) फणाभृतः (उप० तत्पु०), तेषाम् । छादनम्—छद्+णिच्+ल्युट् करणे तत् । जगत्त्रयैकस्थपतिः—जगतां त्रयम् इति जगत्त्रयम् (ष० तत्पु०) । एकश्चासौ स्थपतिश्चेति एकस्थपतिः (कर्मधा०—"पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन" २।१।४९ नियम से कर्मधा० समास हुआ ।) अहीश्वरस्तम्भशिरःसु—अहीनाम् ईश्वरः इति अहीश्वरः (ष० तत्पु०) । स एव स्तम्भः इति अहीश्वरस्तम्भः (कर्मधा०) तस्य शिरांसि इति अहीश्वरस्तम्भशिरांसि (ष० तत्पु०), तेषु ।

कोष :—हेला-'हेला स्त्रियामवज्ञाया विलासे वारयोषिति'—मेदिनी ।

अलंकार—यहाँ 'ओकसः' तथा 'स्थपति' मे शिलष्ट रूपक 'छादनं भूतलम् एव 'अहीश्वरस्तम्भशिर.सु' के अश्लिष्ट रूपको के हेतु है, अतः इसे शिलष्ट परम्परित रूपक कहा जायगा—'यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् । तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम्" ॥

भावार्थ—भवानेव तदा (वराहावतारे) जलनिमग्नामिमां (पृथिवी) पाताल्लोकात् उद्धृत्य तदावरणत्वेन सृष्टेराधारत्वेन च ता शेषशिरस्सु प्रतिष्ठाप्य समेषा लोकानामार्तिहरो बभूव ।

अनन्यगुर्वास्तव केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमावगम्यते ।
मनुष्यजन्मापि सुरासुरान्गुणैर्भवान्भवच्छेदकरैः करोत्यधः ॥३५॥

अन्वय—तव अनन्यगुर्वाः पुराणमूर्तेः केवलः महिमा केन अवगम्यते ? मनुष्यजन्मापि भवान् भवच्छेदकरैः गुणैः सुरासुरान् अधः करोति ।

अर्थ—तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ पुरातन स्वरूप की सम्पूर्ण महिमा कौन जान सकता है ? जब कि मनुष्य रूप मे जन्म लेकर भी आप जन्मादि की निवृत्ति करने वाले अपने (ज्ञानादि) गुणो से देव-दानवो को नीचे किए रहते हैं ।

अनन्येति ।। न विद्यतेऽन्यो गुरुर्यस्यास्तस्या अनन्यगुर्वाः इत्यनीकारान्तः पाठः । समासात्प्राङ्ङीषि 'नद्युतश्च' इति कप्प्रसङ्गः स्यात् । पश्चात्त्वनुपसर्जनाधिकारात् 'वोतो गुणवचनात्' इति प्राप्नोति । 'ङिति ह्रस्वश्च' इति वा

नदीसञ्ज्ञात्वात् 'आण्नद्याः' इत्याडागमः । केचित्तु समासान्तविधिरनित्य इति कपं वारयन्ति तस्याः सर्वोत्तमायास्तव पुराणमूर्तेरमानुषस्वरूपस्य केवलः कृत्स्नः । 'केवलः कृत्स्न एकः स्यात्केवलश्चावधारणे' इति विश्वः । महिमा केनावगम्यते । न केनापीत्यर्थः । कुतः । मनुष्याज्जन्म यस्य स मनुष्यजन्मा भवान् । 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः भवच्छेदकरैः संसारनिवर्तकैर्गुणैर्ज्ञानादिभिः सुरासुरान् । सुरासुरविरोधस्य कार्योपाधिकत्वेनाशाश्वतिकत्वात् 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति न द्वन्द्वैकवद्भाव इत्याहुः । अधःकरोति । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । भवच्छब्दस्य युष्मदस्मदन्यत्वेन शेषत्वादिति । मानुष एव ते महिमा दुरवगाहः । अमानुषस्तु किमिति तात्पर्यार्थः । द्वितीयार्थेऽसकृद्व्यञ्जनावृत्या छेकानुप्रासः ॥

व्याकरण—अनन्यगुर्वा—अविद्यमानः अन्यः गुरुर्यस्याः सा अनन्यगुरुः (ब० व्री०), तस्याः (विशेष सर्वङ्कषा मे) । पुराणमूर्तेः—पुराणी चासौ मूर्तिश्च इति पुराणमूर्तिः (कर्मधा०), तस्याः । महिमा—महतः भावः महिमा (महत्+इमनिच्) । मनुष्यजन्मा—मनुष्यात् जन्म यस्य सः मनुष्यजन्मा (व्यधिकरण ब० व्री०) । सुरासुरान्—सुराश्च असुराश्च इति सुरासुराः (द्वन्द्व) । यहाँ "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" २।४।९ नियम से एकवद्भाव नहीं हुआ, क्योंकि देवों तथा असुरों का विरोध कार्य-विशेष के कारण हुआ था, शाश्वतिक नहीं था—" सर्वङ्कषा । भवच्छेदकरैः—भवतीत भवः (भू+अच् कर्तरि) । भवस्य छेदः (छिद्+घञ् भावे) भवच्छेदः (ष० तत्पु०) । तं कुर्वन्ति इति भवच्छेदकराः (भवच्छेद+कृ+ट कर्तरि) (उप० तत्पु०) तैः ।

कोष—'जन्महरौ भवौ' इत्यमरः ।

अलङ्कार—"यहाँ द्वितीयार्द्ध मे स, भ, क आदि अनेक व्यञ्जनो की अनेक वार आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है।" सर्वङ्कषा।

भावार्थ—यतः मानुषी तनुमाश्रितोऽपि भवान् भवक्लेशविनाशकैः ज्ञानादिगुणैः देवान् दानवांश्च अधःकरोति, अतः पुराणपुरुषस्य भवतः सकल माहात्म्य केनापि ज्ञातु न शक्यते।

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुराममूं किल त्व त्रिदिवादवातरः।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रत गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया ॥३६॥

अन्वय—त्वम् अतिभारभङ्गुराम् अमू लघूकरिष्यन् किल त्रिदिवादवातरः, (परन्तु) साम्प्रतम् उदूढलोकत्रितयेन त्वया धरित्री गुरुः क्रियतेतराम्।

अर्थ—निश्चय ही अत्यधिक (पाप के) भार से टूटती हुई (अर्थात् बोझिल) पृथ्वी को हल्की करने के लिए आप स्वर्गलोक से (इस पर) अवतीर्ण हुए है (परन्तु) इस समय तो आप (अपनी कुक्षि मे) तीनो लोको को वहन करने के कारण इसे गुरुतर (अधिक भारी, पूज्य) किए दे रहे है।

लघूकरिष्यन्निति॥ त्वमतिभारेणोर्जेन स्वरूपेण भङ्गुरा स्वयं भज्यमानाम् 'भञ्जभासमिदो घुरच्'। 'भङ्गुरः कर्मकर्तरि' इति वामनः। अमूम्। भुवमित्यर्थः। लघूकरिष्यन्निर्भारा करिष्यन् किल। 'कृभ्वस्ति--' इत्यादिनाभूततद्भावे च्विः 'च्वौ च' इति दीर्घः। तृतीया द्यौस्त्रिदिवः स्वर्गस्तस्मात्। घञर्थे कविधानम्। वृत्तिविषये सख्याशब्दस्य पूरणार्थत्व त्रिभागादिवत्। अवातरः अवतीर्णोऽसि। सांप्रतं संप्रत्युदूढलोकत्रितयेन। कुक्षाविति शेषः। त्वया धरित्री गुरुः पूज्या, भारवती च क्रियतेतरामतिशयेन क्रियते। 'तिङश्च' इति तरप्। 'किमेत्तिङव्ययघात्—' इत्यादिना आमुप्रत्ययः॥ लघुकर्ता गुरुकर्तेति विरोधाभासोऽलकारः। 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति लक्षणात्

व्याकरण—लघूकरिष्यन्=अलघुं लघु सम्पद्यमाना करिष्यन् इति लघूकरिष्यन् (लघु+च्वि+कृ+लृट्, शतृ) गतितत्पु० ॥ अतिभार-भङ्गुराम्=अतिशयितो भारः अतिभारः (प्रादितत्पु०) तेन भङ्गुरा (भञ्ज्+घुरच्+टाप्) अतिभारभङ्गुरा (तृ० तत्पु०), ताम् ॥त्रिदिवात्—तृतीया द्यौरिति त्रिदिवः (त्रि+द्यो+क.) उदूढलोकत्रितयेन—लोकाना त्रितयं लोकत्रितयम् (ष० तत्पु०) उदूढ (उद्+वह्+क्त कर्मणि) लोकत्रितय येन स उदूढलोकत्रितयः (ब० व्री०), धरित्री—धरति इति धरित्री (धृ+तृच् कर्तरि+ङीष् । क्रियतेतराम्—अतिशयेन क्रियते इति क्रियतेतराम् (क्रियते+तरप्+आमु) यहाँ "तिङश्च" ५।३।५६ नियम से क्रियते के बाद तरप् (तर) प्रत्यय लगा और फिर "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ॥ ५।४।११ अर्थात् किम्, तथा ए मे अन्त होने वाले क्रियारूप एव अव्यय के आगे लगने वाले तरप् और तमप् (अ) प्रत्ययों के आगे 'आमु' प्रत्यय लगता है, परन्तु यदि द्रव्यसम्बन्धी प्रकर्ष प्रकट करना हो तब नहीं" इस नियम से आमु (आम्) प्रत्यय लगा।

कोष—साप्रतम्—"साम्प्रत तूचितेऽधुना" इत्यमरः । गुरु—"गुरुर्महत्याङ्गिरसेपित्रादौ धर्मदेशके । अलघौ दुर्जरे चापि—" इति हैमः । धरित्री—"धरा धरित्री धरणी क्षोणी ज्या काश्यपी क्षितिः" इत्यमरः ।

अलङ्कार—"यहाँ भारको लघु करने के लिए अवतीर्ण हुआ व्यक्ति ही उसे गुरुतर कर रहा है, अतः विरोधाभास अलङ्कार माना जायगा—'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते।"—सर्वङ्कषा ।

भावार्थ—दानवदुराचारभारभज्यमानाया भुवो भारम् अपाकर्तुम्

अवतीर्णस्त्रिलोक्याधारो भवान् साम्प्रतं स्वगौरवेणेमां भुवम् अधिकतरं भास्वतीं (पूज्यां च) करोति ।

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीथा न महीतलं यदि ।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः पदं दृशः स्याः कथमीश मादृशाम् ॥३७॥

अन्वय—निजौजसा जगद्द्रुहाम् उज्जासयितुं यदि महीतलं न उपाजिहीथाः, ततः (हे) ईश समाहितैः अपि अनिरूपितः त्वं मादृशां दृशः पदं कथं स्याः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अपने तेज से जगद्द्रोहियों (कंसादि राक्षसों) को मारने के लिये यदि आप इस पृथ्वी पर अवतीर्ण न होते तो समाधि लगाने वालों के लिए भी दुर्गम आप मुझ जैसे (सामान्य) जनों की दृष्टि में कैसे आते ?

निजेति ॥ निजौजसा स्वतेजसा जगद्भ्यो द्रुह्यन्तीति जगद्द्रुहः कंसादयः । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । तेषां उज्जासयितुम् । तान्हिंसितुमित्यर्थः । 'जासिनिप्रहण—' इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । 'जसु हिंसायाम्' इति चुरादिः । महीतलं नोपाजिहीथाः यदि नावतरेश्चेत् । 'ओहाङ् गतौ' लङि थासि रूपम् । ततस्तर्हि समाहितैः समाधिनिष्ठैरपि । सकर्मकादप्याशितादिवद्विवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः । अथवा समाहितैः समाहितचित्तैरित्यर्थः । विभक्तधनेषु 'विभक्ता भ्रातरः' इतिवदुत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः गम्यमानार्थस्याप्रयोग एव लोप इति कैयटः । अनिरुपितोऽगृहीतस्त्वमीश, मादृशाम् । चर्मचक्षुषामिति भावः । विनयोक्तिरियम् । दृशो दृष्टेः पदं गोचरः कथं स्याः । न कथंचिदित्यर्थः । तस्मात्त्वत्साक्षात्कार एवागमनप्रयोजनमिति भावः ॥

व्याकरण—निजौजसा=निजम् ओजः निजौजः (कर्मधा०), तेन ॥ उज्जासयितुम्=उद्+जस्+णिच्स्वार्थे+तुमुन् ॥ जगद्द्रुहाम्—जगद्भ्यो द्रुह्यन्तीति जगद्द्रुहः (जगत्+द्रुह्+क्विप् कर्तरि) उप० तत्पु०, तेषाम् यहाँ "जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषा हिंसायाम् २।३।५६" अर्थात् हिंसार्थक जस्, नि तथा प्रपूर्वक हन्, क्रथ्, नट् तथा पिष् धातुओ के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है—इस नियम से हिंसार्थक उज्जासयितुम् के कर्म (शेष) मे षष्ठी हुई है ॥ उपाजिहीथाः—उप+आ+हा (ओहाङ् गतौ)+लङ् थास् ॥ समाहितैः—सम्+आ+धा+क्त कर्तरि समाहिताः, तैः। विशेष सर्वङ्कषा मे ॥ दृशः—पश्यतीति दृक् (दृश् क्विप् कर्तरि) तस्याः ॥ स्याः=अस्+शकिलिङ् यास् ॥

कोष—ओजः "दीप्तौ बले" इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ अनुप्रास अलङ्कार है।

भावार्थ—यदि दुराचारिणाम् उन्मूलनाय भूतल नालङ्क्रियात् तदा योगिभिरपि दुरापो भवान् अस्मादृग्भिर्दर्शनीयः कथ भवेत् ॥

ननु कोऽयं नियमो यन्ममैवाय दुष्टनिग्रहाधिकार इत्याशङ्क्यानन्यसाध्यत्वमेवाह—

उपप्लुत पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वंभर विश्वमीशिषे।
ऋते रवेः क्षालयितु क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमस नभः ॥२८॥

अवन्य—हे विश्वम्भर मदोद्धतैः उपप्लुतं अदः विश्वं पातुं त्वमेव ईशिषे क्षपातमस्काण्डमलीमस नभः क्षालयितुं रवेः ऋते कः क्षमेत ॥

अर्थ—हे विश्वपालक। मदोन्मत्त राक्षसो से पीडित इस विश्व की रक्षा

करने मे आप ही समर्थ हैं। रात्रिकालीन अन्धकारसमूह से मलिन आकाश को विमल करने मे सूर्य के अतिरिक्त और कौन समर्थ है ?

उपप्लुतमिति ।। विश्व बिभर्तीति विश्वंभरस्तत्सबुद्धौ हे विश्वंभर विश्वत्रातः। 'संज्ञायां भृतृवृजि--' इत्यादिना खच्प्रत्यये मुमागमः। मदोद्धतैः कंसादिभिरुपप्लुतं पीडितम् अदो विश्व पातु त्वमेव ईशिषे शक्तोऽसि। विश्वभरत्वादिति भावः। ईश ऐश्वर्ये लिटि थासि रूपम्। अत्र वैधर्म्येण दृष्टान्तमाह—क्षपायास्तमस्काण्डैस्तमोवर्गैः। 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमरः। 'कस्कादिषु च' इति विसर्जनीयस्य सत्वम्। मलीमस मलिनम्। 'मलीमस तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः। ज्योत्स्नातमिस्रा–' इत्यादिना मत्वर्थीयो निपातः। नभः क्षालयितु रवेः ऋते रविं विना। 'अन्यारादितरर्ते–' इति पञ्चमी। कः क्षमेत शक्नुयात्। न कोऽपीत्यर्थः। अत्र वाक्यद्वये समानधर्मस्यैकस्येशिषे क्षमेतेति शब्दद्वयेन वस्तुभावेन निर्देशात्तत्रापि व्यतिरेकमुखत्वाद्वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमालकारः। तदुक्तम्—सर्वस्य वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ।।

व्याकरण—उपप्लुतम्—उप+प्लु+क्त कर्मणि। मदोद्धतैः—मदेन उद्धताः (उद्+हन्+क्त कर्तरि) मदोद्धताः (तृ० तत्पु०) तैः। विश्वम्भर—विश्वं बिभर्ति इति विश्वम्भरः (विश्व+भृ+खच् कर्तरि सज्ञायाम्)—उपपद-तत्पु०। तत्सम्बुद्धौ हे विश्वम्भर। ईशिषे—ईश+लट्+थास्। क्षालयितुम्—क्षल्+णिच् स्वार्थे+तुमुन्। क्षमेत—क्षम्+लिङ् (शकि)+त।

क्षपातमस्काण्डमलीमसम्—तमसां काण्डः तमस्काण्डः (ष० तत्पु०) । यहाँ "कस्कादिषु च" ८।३।४८ नियम से तमः के विसर्ग को सकार हो जाता है। क्षपायाः तमस्काण्डः क्षपातमस्काण्डः (ष० तत्पु०) तेन मलीमसम् क्षपातमस्काण्डमलीमसम् (तृ० तत्पु०), तत्।

कोष—विश्वम्भर—"विश्वम्भरः कैटभजिद्विधुः श्रीवत्सलाञ्छनः ।" इत्यमरः । क्षपा—"निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा" इत्यमरः ।

अलङ्कार—यहाँ वस्तुतः एक ही भाव 'ईशिषे' तथा क्षमेत' इन दो शब्दो द्वारा इस प्रकार दो पृथक् वाक्यों मे कहा जाता है कि मानो दो पृथक् भाव हो और विशेषता यह कि उस समान भाव को वैधर्म्य के द्वारा व्यक्त किया गया है। इस प्रकार यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है—'अलङ्कारसर्वस्व' मे उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है "वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ।" सवङ्कषा ।

भावार्थ—देव, निशान्धतमसाऽऽवृत नभः प्रकाशयितुं तमश्च विनाशयितुं यथा रविरेव क्षमः तथैव दानवैः पीडित जगतीतल रक्षितुं दानवांश्च उन्मूलयितुं त्वमेव समर्थः।

करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्जनो मृगाणामिव यत्तवस्तवम् ।
हरे हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया ॥ ३९॥

अन्वय—जनाः मृगाणामिव कंसादिमहीभृता वधात् यत् तव स्तवं करोति, (हे) हरे ! सा हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः तव प्रत्युत तिरस्क्रिया ।

अर्थ—हे भगवन् (नृसिंह) ! लोग पशुओं (मृगों) के समान कंस इत्यादि राजाओं का वध करने के कारण जो आप की स्तुति करते है, वह तो हिरण्याक्ष इत्यादि असुर रूपी हाथियो का नाश करने वाले आप का उलटे अपमान है।

करोतीति ॥ किंच जनो मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधाद्धेतोः स्तवं स्तोत्रम्। 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः। करोतीति यत् हे हरे हे कृष्ण, हे सिंहेति च गम्यते। सा स्तुतिक्रिया हिरण्याक्षपुरःसरा हिरण्याक्षप्रभृतयो येऽसुरास्त एव द्विपास्तेषां द्विषः। हन्तुरित्यर्थः। तस्य तव प्रत्युत वैपरीत्येन। 'प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये' इति गणव्याख्यानात्। तिरस्क्रियावमानः। यदिति सामान्ये नपुंसकम्। सेति विधेयलिङ्गम्। गजघातिनः सिंहस्य मृगवधवर्णनमिव महासुरहन्तुस्तव कंसादिक्षुद्रनृपवधवर्णनं तिरस्कार एवेत्यर्थः। अत्रासुरद्विपानामिति हरिवद्धरिरिति श्लिष्टपरम्परितरूपकं मृगाणामिवेत्युपमयाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते॥

व्याकरण—कंसादिमहीभृताम्—महीं बिभ्रतीति महीभृतः (मही+भृ+क्विप् कर्तरि) उप० तत्पु०। कंसः आदिर्येषां ते कंसादयः (ब० व्री०)। कंसादयश्च ते महीभृतः कंसादिमहीभृतः (कर्मधा०) तेषाम्॥ हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः पुरः (अग्रे) सरति इति पुरःसरः (पुरः+सृ+ट कर्तरि) उप० तत्पु०। द्वाभ्यां पिबति इति द्विपः (द्वि+पा+क कर्तरि) उप० तत्पु०। असुरा द्विपा इव इति असुरद्विपाः (उपमितकर्मधा०)। हिरण्याक्षपुरःसराश्च ते असुरद्विपाः हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपाः (कर्मधा०), तान् द्वेष्टि इति हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विट् (हिरण्याक्ष..........+द्विष्+क्विप् कर्तरि) उप० तत्पु०, तस्य॥

कोष—हरि—यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥ इत्यमरः।

अलङ्कार—"यहाँ असुरो को द्विप मानने के कारण हरि शब्द मे श्लेषबल से हरि (सिह) के समान हरि (विष्णु) यह रूपक माना गया, जिसे श्लिष्टपरम्परित रूपक कहा जाता है और 'मृगाणामिव' मे आई हुई उपमा पूर्वोक्त रूपक के अङ्ग के रूप मे प्रयुक्त हुई है। अत. इस पद्य मे श्लिष्ट परम्परित रूपक तथा उपमा का अङ्गाङ्गिभाव सकर माना जायगा।"— सर्वङ्कषा ॥

भावार्थ---यथा गजेन्द्रघातुकस्य सिहस्य मृगवधकीर्तन तस्य गजेन्द्रवधजन्य यशो लघूकरोति तथैव हिरण्याक्षप्रभृतिमहासुरघातिन भवन्त यज्जनाः कसादिक्षुद्रनृपतिवधमन्तरा स्तुवन्ति तद् वस्तुतः भवतस्तिरस्करणमेव, नतु स्तवनम् ॥

एवं स्तुत्या देवमभिमुखीकृत्यागमनप्रयोजन वक्तुमुपोद्घातयति—

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रम· क्रमेण पेष्टु भुवनद्विषामसि ।
तथापि वाचालतया युनक्ति मा मिथस्त्वदाभाषणलोलुप मनः॥४०॥

अन्वय—(त्वम्) उज्झितश्रमः क्रमेण भुवनद्विषा पेष्टु स्वयमेव प्रवृत्तः असि। तथापि मिथ. त्वदाभाषणलोलुप मनः मा वाचालतया युनक्ति।

अर्थ—आप परिश्रम को त्याग कर (अर्थात् परिश्रम की कोई चिन्ता न कर) क्रमशः लोकद्रोहियो का वध करने के लिए स्वय ही प्रवृत्त रहते है, तथापि आप के साथ एकान्त मे वार्तालाप करने का लोभी मन मुझे वाचाल बना रहा है।

प्रवृत्त इति ॥ त्वमुज्झितश्रमस्त्यक्तश्रमः सन् क्रमेण भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषो दुष्टास्तेषा पेष्टुम्। तान्हिसितुमित्यर्थः। 'जासिनिप्रहण--' इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी। स्वयमपरप्रेरित एव प्रवृत्तोऽसि। एव तर्हि पिष्टपेषणं

किमिति चेत्तत्राह—तथापि स्वतः प्रवृत्तेऽपि मिथो रहसि त्वदाभाषणे त्वया सह संलापे लोलुपं लुब्धम्। 'लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ, इत्यमरः। मनो मा वाचालतया सह युनक्ति। वाचालं करोतीत्यर्थः। वाचो बह्व्योऽस्य सन्तीति वाचालः। 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' इत्यालच्। स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इत्यमरः ॥

व्याकरण—उज्झितश्रमः—उज्झितः (उज्झ+क्त कर्मणि) श्रमः येन स उज्झितश्रमः (ब० व्री०)॥ पेष्टुम्—पिष्+तुमुन् ॥ भुवनद्विषाम्—भुवनानि द्विषन्ति इति भुवनद्विषः (भुवन+द्विष्+क्विप् कर्तरि) उपपदतत्पु०। तेषाम्। षष्ठी के लिए श्लोक ३७ के जगद्द्रुहाम् पर नोट देखिए। वाचालतया—वाचो बह्व्यः सन्ति अस्य इति वाचालः (वाच्+आलच्—"आलजाटचौ बहुभाषिणि" ४।२।१२५ नियम से) तस्य भावः वाचालता (वाचाल+तल्+टाप्) तया॥ त्वया सह आभाषणं त्वदाभाषणम् (सुप्सुपा)। तस्मिन् लोलुप (लुप्+यङ्+अच् कर्तरि) त्वदाभाषणलोलुपम् (सुप्सुपा)॥

कोष—"मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' इत्यमरः।

भावार्थ—यद्यपि भवान् जगद्द्रुहां विघाताय स्वयमेव निरन्तरं प्रयतते तथापि भवता सहालापं कर्तुं लोलुपं मे मनः भवन्तं किञ्चित् कथयितुं प्रेरयति॥

अथ स्ववाक्यश्रवणं सहेतुकं प्रार्थयते—

तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र यद्वचः क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद्भवता निशम्यताम् ॥४१॥

अन्वय—तत् उपेन्द्र ! इन्द्रसन्दिष्ट विश्वजनीन यत् वचः मया क्षणम् उच्यते, तत् अहिद्विषः समस्तकार्येषु धुर्यता गतेन भवता निशम्यताम् ।

अर्थ—इसलिये हे भगवन् ! विश्व के हित के लिए इन्द्र के द्वारा भेजा गया जो सन्देश-वचन मैं क्षण भर के लिए कह रहा हूँ, उसे वृत्रासुर को मारने वाले देवराज के समस्त कार्यों मे अग्रसर होने वाले आप सुनें ।

तदिति ॥ तत्तस्मादिन्द्रमुपगत· उपेन्द्र इन्द्रावरजः । अत एवेन्द्रसदिष्ट श्रोतव्यमिति भावः । किंच विश्वस्मै जनाय हित्त विश्वजनीनम् 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' । यद्वचः क्षणं न तु चिरं मयोच्यते, तद्वचोऽहिद्विषो वृत्रघ्नः 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती । समस्तकार्येषु धुर्यतां धुरधरत्वं गतेन । अतोऽपि भवता निशम्यताम् । प्रार्थनाया लोट् । धुरं वहतीति धुर्यः । 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्यय । स्फुटमत्र पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलकारः ॥

व्याकरण—**इन्द्रसन्दिष्टम्**—इन्द्रेण सन्दिष्टम् (सम्+दिश्+क्त कर्मणि), तृ० तत्पु० ॥ **उपेन्द्र**=इन्द्रम् उपगतः उपेन्द्रः प्रादितत्पु०) तत्सम्बुद्धौ हे उपेन्द्र । वामनावतार मे विष्णु अदिति के गर्भ से कश्यप के पुत्र के रूप में इन्द्र के बाद उत्पन्न हुए थे, इसलिये वे उपेन्द्र अर्थात् इन्द्र के अनुज कहे जाते है । यहा उपेन्द्र शब्द का प्रयोग इस अभिप्राय से किया गया है कि इन्द्र के छोटे भाई होने के कारण इन्द्र की आज्ञा मानना उनका कर्तव्य है ॥ **विश्वजनीनम्**—विश्वो जनः (कर्मधा०), तस्मै हित विश्वजनीनम् (विश्वजन+ख) ॥ **समस्तकार्येषु**=समस्तानि कार्याणि (कर्मधा०) तेषु । **धुर्यताम्**=धुरं वहति इति धुर्य्यः (धुर+यत्), तस्य भावः धुर्यता, ताम् ॥ **अहिद्विषः** =

अहिं (वृत्रासुरं) द्विष्टवान् इति अहिद्विट् (अहि+द्विष्+क्विप् कर्तरि) उप० तत्पु०, तस्य ॥ निशम्यताम् = नि+शम्+लोट् त कर्मणि ॥

कोषः— धुर्य्यं —"धूर्वहेधुर्य्यधौरेयधुरीणाःसधुरंधराः' इत्यमरः। अ हि—"अहिवृ'त्रासुरे सर्पे" इति विश्वः।

अलङ्कार—चूंकि इन्द्र का छोटा भाई होना एवं उनके सभी कार्यों में विष्णु का अग्रणी होना वचन श्रवण में हेतु है, इसलिए यहाँ स्पष्ट ही काव्य-लिङ्ग अलकार है।

भावर्थ—हे उपेन्द्र, महेन्द्रसन्दिष्टं जगद्धितकारकं यद् वचोऽहं ब्रवीमि तत् महेन्द्रनिखिलसाधको भवान् समाहितेन मनसा शृणोतु ॥

अथ शिशुपालो हन्तव्य इति वक्तु तस्यावश्यवध्यत्वेऽनन्यवध्यत्वज्ञापनौपयिकतया औद्धत्यप्रकटनार्थं जन्मान्तरवृत्तान्तं तावदुद्धाटयति—

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥४२॥

अन्वय—प्रतिपक्षजन्मना भियाम् अभूमिः तपनद्युतिः दितेः तनूजः अभूत्, हरेः इन्द्रशब्दार्थनिषूदनं यं हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते।

अर्थ—शत्रुओ से उत्पन्न होने वाले भय से सदा मुक्त (रहित) एवं सूर्य के समान तेजस्वी दिति-पुत्र (दैत्य) था जिसने देवराज के 'इन्द्र'—इस नाम के ('परमैश्वर्यशाली') अर्थ को नष्ट कर दिया था और जिसे लोग हिरण्यकशिपु कहते थे।

टिप्पणी—चूंकि हिरण्यकशिपु ने सर्वाधिक प्रभुत्व प्राप्त करके देवराज का

ऐश्वर्य छीन लिया, इसलिए-उसने उनकी 'इन्द्र' सञ्ज्ञा जिसका अर्थ परमैश्वर्य-शाली होता है, निरर्थक कर दिया था।

अभूदिति।। प्रतिपक्षान्छत्रोः जन्म यासा तासा भियामभूमिरविषयः निर्भीक इत्यर्थः। तपनद्युतिः सूर्यतापो दितेस्तनूजो दैत्योऽभूत्। कोऽसावत आह—हरेरिन्द्रस्य इन्द्रशब्दार्थनिषूदन इन्दतीति इन्द्रः।'इदि परमैश्वर्ये' 'ऋज्रेन्द्र--' इत्यादिना रन्प्रत्ययान्त औणादिकनिपातः तस्य इन्द्र इति शब्दस्येन्द्र इति सञ्ज्ञापदस्य योऽर्थः परमैश्वर्यलक्षणस्तस्य निषूदन निवर्तकम्। कर्तरि ल्युट्। हरेरैश्वर्यनिहन्तारमित्यर्थः। य दैत्य हिरण्यशब्दपूर्वं कशिपुशब्द प्रचक्षते। हिरण्यकशिपुमाहुरित्यर्थः। अत्र हिरण्यशब्दपूर्वकत्व कशिपुशब्दस्यैव न तु सञ्ज्ञिन-स्तदर्थस्येति शब्दपरस्य कशिपुशब्दस्यार्थगतत्वेनाप्रयोज्यस्यप्रयोगादवाच्यवचना-ख्यार्थदोषमाहुः। 'यदेवावाच्यवचनमवाच्यवचनं हि तत्' इति समाधानम्। एव-विधविषये शब्दपरेणार्थलक्षणेति कथञ्चित्सपाद्यमित्युक्तमस्माभिःदेवपूर्वगिरिं ते, इति। 'धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश' इत्येतद्व्याख्यानावसरे सञ्जीविन्यां घण्टापथे चाविशेषश्चात्र-यद्दैत्यमुद्दिश्य हिरण्यपूर्वं कशिपुं सञ्ज्ञात्वेन प्रयुङ्क्ते।

व्याकरण—प्रतिपक्षजन्मनाम्—प्रतिकूलः पक्षो यस्य स प्रतिपक्षः (ब० व्री०), तस्मात् जन्म यासा ताः प्रतिपक्षजन्मानः (ब०व्री०), तासाम्॥ भियाम्—भी+क्विप् भावे (ष० बहुवचन)॥ तनूजः=तन्वाः जातः इति तनूजः (तनू+जन्+ड कर्तरि) उप० तत्पु०॥ तपनद्युतिः—तपनस्य द्युति-रिव द्युतिर्यस्य सः तपनद्युतिः (ब०व्री०)॥ इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम्—इन्दति पर-मैश्वर्यं लभते इति इन्द्रः (इन्द्+रन् कर्तरि औणादिकः प्रत्ययः)। इन्द्र रूपः शब्दः इन्द्रशब्दः (कर्मधा०), तस्य अर्थः इन्द्रशब्दार्थः (ष० तत्पु०), तस्य निषू-

दनः (नि+सूद्+णिच् स्वार्थे+ल्यु कर्तरि) इन्द्रशब्दार्थनिषूदनः (ष० तत्पु०), तम् ॥ हिरण्यपूर्वम् —हिरण्यः पूर्वो यस्य स हिरण्यपूर्वः (ब० व्री०) तम् ॥

कोष—हरिः—'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥' इत्यमरः ॥ तनू—'कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । तपनः—"तपनः सविता रविः" इत्यमरः ।

भावार्थ—बभूव किल शत्रुभ्यो निर्भीकः सूर्य इव तेजस्वी दितेः पुत्रो हिरण्यकशिपुर्नाम यो निजैश्वर्यसम्पदा इन्द्रस्य इन्द्रत्वमपि अतिचक्राम ॥

समत्सरेणासुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम् ।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत ।४३॥

अन्वय—समत्सरेण असुर इति नाम्नः चिराय प्रथमाभिधेयताम् उपेयुषा तरस्विना येन द्युसदां मनस्सु भयस्य पूर्वावतरः न्यधीयत ।

अर्थ—दूसरो से द्वेष रखने वाले 'असुर' इस नाम को सर्वप्रथम चिरकाल तक सार्थक करते हुए बलवान् हिरण्यकशिपु ने देवताओ के मन मे भय का प्रथम प्रवेश कराया था ।

समत्सरेणेति ॥ समत्सरेणान्यशुभद्वेषसहितेन । 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे–इत्यमरः । अस्यतीत्यसुरः । असेरुरन् । असुर इति नाम्नः चिराय चिरकालेन । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । प्रथमाभिधेयतामुपेयुषा अन्वर्थतया मुख्यार्थतां गतेन तरस्विना बलवता । 'तरसी बलरहसी' इति विश्वः ।

येन हिरण्यकशिपुना दिवि सीदन्तीति द्युसदा देवाना मनस्सु भयस्य पूर्वावतरः प्रथमप्रवेशः 'ऋदोरप्' । न्यधीयत निहितः । धाञः कर्मणि लिङ् । अस्मादेव देवाना प्रथम भयस्योत्पत्तिरभूदित्यर्थः ॥

व्याकरण—असुरः—अस्यति (क्षिपति) इतिः असुरः (अस्+उरन्) ॥ प्रथमाभिधेयताम्—अभिधातु योग्यः अभिधेयः (अभि+धा+यत् कर्मणि) । प्रथमः अभिधेयः प्रथमाभिधेयः (कर्मधा०), तस्य भावः प्रथमाभिधेयता, ताम् ॥ पूर्वावतरः—अवतरणम् अवतरः (अव+तृ+अप् भावे), "ऋदोरप् ३।३।५७" नियम से अप् प्रत्यय हुआ ॥ तरस्विना—तरः(बलम्) अस्ति अस्य इति तरस्वी (तरस्+विनिः मत्वर्थे), तेन । द्युसदाम्—दिवि सीदन्ति इति द्युसदः (दिव्+सद्+क्विप् कर्तरि) उप० तत्पु०, तेषाम् ॥ न्यधीयत—नि+धा+लङ् त कर्मणि ॥

भावार्थ—देवद्वेषी दानवाधीशः अन्वर्थासुरनामा चासौ हिरण्यकशिपुरेव देवानां मनःसु प्रथमं भीतिमुत्पादयामास ॥

दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरानपास्य तं रागहृताः सिषेविरे ।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः ॥४४॥

अन्वय—यतः श्रियः दिशां अधीशान् चतुरः सुरान् अपास्य त हिरण्यकशिपुं रागहृताः सिषेविरे, ततः आरभ्य अयशस्कर चलाः इति प्रवादम् उच्चैः अवापुः ॥

अर्थ—जब से लक्ष्मी दिशाओ के स्वामी चारों देवताओ को छोडकर हिरण्यकशिपु के प्रेम से आकृष्ट होकर उसी की सेवा करने लगी तभी से उनको 'चञ्चला' नाम से बड़ी ही अपकीर्तिकारी निन्दा हुई ।

दिशामिति॥ श्रियः संपदो यतः। यदेत्यर्थः। दिशामधीशान्दिक्पतीनपि चतुरः सुरानिन्द्रवरुणयमकुबेरानपास्य त्यक्त्वा तं हिरण्यकशिपुं रागहृता रागकृष्टाः सत्यः। न तु बलादिति भावः। सिषेविरे। यतो वीरप्रियाः श्रिय इति भावः। ततः आरभ्य तदाप्रभृति अयशः करोतीत्ययशस्करम्। दुष्कीर्तिहेतुरित्यर्थः। 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टप्रत्ययः। 'अतः कृकमि—' इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम्। उच्चैः प्रचुरं चला अस्थिरा इति प्रवादं जनापवादमवापुः। दिगीशानामपि सर्वस्वहारित्वात्तदौद्धत्यस्य प्राकट्यमिति भावः॥

व्याकरण—अपास्य—अप+अस् (क्षेपे दिवादि)+ल्यप्। रागहृताः—रागेण हृताः इति रागहृताः (तृ० तत्पु०)॥ सिषेविरे—सेव्+लिट् झ (इरे)॥ अवापुः—अव+आप्+लिट् झि (उस)। अयशस्करम्—न यशः अयशः (नञ् तत्पु०)। अयशः करोति इति अयशस्करम् (उप० तत्पु०)। (विशेष सर्वङ्कषा मे)

भावार्थ—सम्पदः हिरण्यकशिपुशौर्यविमोहिताः सत्यः इन्द्रयमवरुणकुबेरान् चतुरो दिगधिपानपि परित्यज्य सानुरागं तं भेजिरे, ततः प्रभृति च ताः "सम्पदश्चला" इति लोकापवादमपि अवापुः (श्रियः लोकापवादमपि अविगणय्य हिरण्यकशिपु सिषेविरे इत्यहो तस्य शौर्यातिशयः।)

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे॥४५॥

अन्वय—नाकिना गणैः यम् आशङ्क्य तदादि स्वरूपशोभैकफलानि

पुराणि दुर्गाणि, आयुधं निशातं, बलानि शूराणि, कञ्चुकाश्च घनाश्चक्रिरे।

अर्थ—देवताओं ने उसी (हिरण्यकशिपु) की आशङ्का से उसी समय से केवल शोभा (दिखावट) के लिए विद्यमान नगरों को (खाई आदि के द्वारा) दुर्ग (किला, अगम्य) बना दिया, हथियारों को तेज किया सेनाओं को शौर्य-युक्त तथा लौहकवचों को दुर्भेद्य (कठिन या) सुदृढ बनाया।

पुराणीति ॥ किंच। नाकिनां सुराणां गणैः यं हिरण्यकशिपुमाशङ्क्य बाधकत्वेनोत्प्रेक्ष्य स कालः आदिर्यस्मिंस्तदादि तत्तदाप्रभृति स्वरूपशोभैवैकफलं मुख्यं प्रयोजनं येषां, तेषां सुरादीनां तानि यथोक्तानि प्रागीदृगसाध्यशत्रोरभावा-दिति भावः। 'नपुंसकमनपुंसकेन—' इत्यादिना नपुंसकशेषः। पुराणि दुर्गाणि प्राकारपरिखादिना अगम्यानि चक्रिरे। 'सुदुरोरधिकरणे' इति गमेर्डः। आयुधं निशातं निशितं चक्रे इति विभक्तिविपरिणामेना-न्वयः। 'शो तनूकरणे' इति धातोः क्तः 'शाच्छासोरन्यतरस्याम्' इतीत्वविकल्पा-त्पक्षे आत्वम्। बलानि सैन्यानि शूराणि शौर्यवन्ति चक्रिरे संपादितानि। कञ्चु-का वारबाणाः लोहवर्माणीत्यर्थः 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः। घना दुर्भेदाश्चक्रिरे। इत्थं नित्यसंनद्धा जाग्रति स्मेत्यर्थः॥

व्याकरण—दुर्गाणि—दुःखेन गच्छन्ति एषु तानि दुर्गाणि (दुर्+गम् +डः अधिकरणे। निशातम् नि+शो (तनूकरणे दिवादि)+क्त कर्मणि। आयुध मू आयुध्यते अनेन इति आयुधम् (आ+युध+क करणे)। घनाः—हन्+अप् भावे। स्वरूपशोभैकफलानि—स्व रूपम् स्वरूपम् (कर्मधा०)। स्वरूपेण शोभा (सुप्सुपा), सा एव एकं फलं येषां तानि स्वरूप० (ब०व्री०)॥ नाकिनाम्-

न कम् सुखम् इति अकम् (नञ् तत्पु०), न विद्यते अक यस्मिन् स नाकः (ब०व्री०), सः अस्ति एषाम् इति नाकिनः (नाक+इनिः मत्वर्थे), तेषाम् ॥ तदादि—स आदिः यस्मिन् तत् तदादि (ब०व्री०) (क्रियाविशेषणपद)। चक्रिरे—कृ+लिट्+झ (इरे) कर्मणि ॥

कोप—बलानि—"स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलम्" इत्यमरः।

घनाः—घन सान्द्र घन वाद्य घनो मुस्ता घनोऽम्बुदः। घनः काठिन्यसघातो विस्तारो लोहमुद्गरौ इति धरणिः ॥ आयधुम्—'आयुध तु प्रहरण शस्त्रमस्त्रम्' इत्यमरः ।

भावार्थ—देवा हिरण्यकशिपोरेव भीता· सन्तः स्वकीयानि नगराणि परितः प्राकारपरिखादिभिः दुर्गमानि विदधुः, चिरात् अप्रयोगात् कुण्ठिताग्रधाराणि प्रहरणानि च शाणोल्लेखनादिभिः तीक्ष्णानि चक्रुः, सङ्ग्रामाभावात् अलसान् सैनिकांश्च कृत्रिमयुद्धाभ्यासद्वारेण सस्फूर्तिकान् सोत्साहांश्च अनुतस्थुः तथा लौहवर्माणि अतिकठिनानि दुर्भेद्यानि च निर्ममुः ॥

स संचरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसंध्य त्रिदशैर्दिशे नमः ४६ ।

अन्वय—भुवनान्तरेषु सञ्चरिष्णुः श्रियः आश्रयः सः यदृच्छया याम् (दिशम्) अशिश्रियत, तस्यै दिशे मुकुटोपलस्खलत्करैः त्रिदशैः त्रिसन्ध्यं नमः अकारि ।

अर्थ—अन्यान्य लोको मे घूमता हुआ, लक्ष्मी का आश्रय वह हिरण्यकशिपु स्वेच्छा से जिसी दिशा मे जाता था, उसी दिशा को मुकुट के रत्नो पर

(अर्थात् मुकुट से शोभित सिर से) हाथ जोड ते हुए देवता भी तीनो सन्ध्याओं मे नमस्कार करते थे ।

स इति ।। अन्येषु भुवनेषु भुवनान्तरेषु । 'सुप्सुपा' इति समासः । सचरिष्णु सचरणशीलः । 'अलकृञ्--' इत्यादिना चरेरिष्णुच् । श्रियो लक्ष्म्या आश्रयः स हिरण्यकशिपु. यदृच्छया स्वैरवृत्त्या । 'यदृच्छा स्वैरवृत्तिः' इत्यमरः । यां दिशमशिश्रियदगमत् । 'श्रयतेलुंड् णिश्रि--' इत्यादिना चडि द्विर्भावः इयड। देश । मुकुटोपलेषु मौलिरत्नेषु स्खलन्तः करा येषा तै. । शिरसि बद्धाञ्जलिभिरित्यर्थः ।। 'उपल· प्रस्तरे रत्ने' इति विश्व । तिस्रो दशा बाल्यकौमारयौवनानि, जन्मसत्तावृद्धयो वा येषा तैस्त्रिदशैर्देवैः । यद्वा त्रिर्दश परिमाणमेषामिति 'बहुव्रीहौ सख्येये डजबहुगणात्' इति समासान्त । तिस्र सन्ध्या समाहृतास्त्रिसन्ध्यम् । 'तद्धितार्थोत्तरपद--' इत्यादिना समाहारे द्विगुः, द्विगुरेकवचनम् । वा टाबन्त इति पक्षे नपुसकत्वम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । तस्यै दिशे करैर्हस्तैः । 'नम·स्वस्ति--' इत्यादिना चतुर्थी । नमः नमस्कारोऽकारि कृतम् । कृञ. कर्मणि लुड् 'चिण् भावकर्मणो.' इति चिण् । सन्ध्यावन्दनेऽपि दिङ्नियम परित्यज्य तदागमनभयात्तस्यै दिशे नमस्कार कृत इति भाव. ।।

व्याकरण—सञ्चरिष्णु = सम् + चर् + इष्णुच् (कर्तरि ताच्छील्ये) । भुवनान्तरेषु—अन्यानि भुवनानि भुवनान्तराणि (मयूरव्यसकादिसमास), तेषु ।। यदृच्छया = ऋच्छनम् ऋच्छा (ऋच्छ गतौ तुदादि + अ भावे), या ऋच्छा यदृच्छा (कर्मधा०), तया । अशिश्रियत्—श्रि + लुड् तिप कर्तरि । अकारि—कृ + लुड् त कर्मणि । मुकुटोपलस्खलत्करैः—मुकुटानाम् उपला· मुकुटोपलाः (ष० तत्पु०), तेषु स्खलन्तः (स्खल् + शतृ कर्तरि) मुकुटोपलस्खलन्तः (सुप्सुपा समास) । तादृशाः कराः येषां ते मुकुटो० (ब०व्री०), तैः । त्रिसन्ध्यम्

तिसृणा सन्ध्यानां समाहारः त्रिसन्ध्यम् (समाहारद्विगु०) । यह समास 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' अर्थात् तद्धितार्थं विषय होने पर, अनन्तर कोई अन्य पद होने पर तथा समाहार (समूह) वाच्य होने पर दिक् और सख्यावाची शब्द समास बनाते है, इस नियम से बना है।

त्रिदशैः—तिस्रः दशा येषा ते त्रिदशाः (ब० व्री०), तै. ।

कोष—त्रिदश—"अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः" इत्यमरः ।

भावार्थ—हिरण्यकशिपुः स्वेच्छया यामेव दिशं प्रापत्, देवगणा सन्ध्या-वन्दनसमये दिङ्नियममुपेक्ष्य तामेव दिशं स्वप्रणतिततिभिः अर्चयन्ति स्म ।

अथ सोऽपि त्वयैव हत इत्याह —

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह सैंहीमतनुं तनु त्वया ।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदार प्रतिचस्करे नखैः ॥ ४७ ॥

अन्वय—(हे) नृसिंह, अतनुं सैंही तनुं बिभ्रता सटाच्छटाभिन्नघनेन त्वया स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः नखैः उरोविदार प्रतिचस्करे ॥

अर्थ—हे नृसिह ! विशाल सिंहशरीर धारण कर अपनी जटाओ से मेघों को छिन्न-भिन्न करते हुए आपने नवयौवना कान्ता के कठिन स्तनो से भी टेढ़े हो जाने वाले अपने नखो से उस राक्षस का वक्षःस्थल विदीर्ण करके उसे मार डाला ।

सटाच्छटेति ॥ हे नृसिह, नर· सिंह इवेत्युपमितसमास· । ना चासौ सिंहश्चेति प्रस्तावात् । सिंहस्येमां सैंही तनुं कायं बिभ्रता । नृसिंहावतारभाजेत्यर्थः । किंभूता । अतनुं विस्तीर्णाम् । अतएव सटाच्छटाभिः केशरसमूहैः भिन्ना घना मेघा येन । अभ्रंकषविग्रहत्वादिति भावः । 'सटा जटाकेशरयोः' इति 'तनुः काये कृशेऽल्पे च' इति विश्वः । त्वया स दैत्यः मुग्धौ नवौ । 'मुग्धः सौम्ये नवे

-मूढे' इति वैजयन्ती । यौ कान्तास्तनौ तयोः सङ्गेनापि भङ्गुरैः कुटिलैर्नखैरुरोविदारमुरो विदार्य । 'परिक्लिश्यमाने च' इति णमुल्प्रत्ययः । प्रतिचस्करे हृतः । किरतेः कर्मणि लिट् 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः । 'हिंसाया प्रतेश्च' इति सुडागमः । वज्रकठिनोऽपि नखैर्विदारित इति वाङ्मनसयोरगोचरमहिम्नस्ते किमसाध्यमिति भावः ॥

व्याकरण—सटाच्छटाभिन्नघनेन = सटानाछटाः सटाच्छटाः (ष०तत्पु०), ताभिः भिन्नाः घनाः येन सः सटाच्छटाभिन्नघनः (ब० व्री०), तेन । नृसिंह—ना सिंह इव इति नृसिंहः (उपमित कर्मधा०) । अथवा ना चासौ सिंहश्चेति (कर्मधा०), तत्सम्बुद्धौ । अतनुम्—न तनुः अतनुः (नञ् तत्पु०), ताम् । मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः—मुग्धा चासौ कान्ता च, तस्याः स्तनौ मुग्धकान्तास्तनौ (कर्मधारयगर्भित ष० तत्पु०) । मुग्धौ यौ कान्तास्तनौ इति वा (कर्मधारय०) । तयोः सङ्गः (ष० तत्पु०), तेन भङ्गुरैः मुग्ध—भङ्गुरैः (तृ० तत्पु०)

उरोविदारम्—उरः विदार्य्य इति (उरस्+वि+दृ+णिच्+णमुल् भावे) । यहाँ 'परिक्लिश्यमाने च' अर्थात् 'चारो ओर से पीड़ित अ ग के द्वितीयान्त होने पर धातु मे णमुल् होता है'—इस नियम से णमुल् हुआ है । उपपद तत्पु० ।

प्रतिचस्करे—प्रति+कृ+लिट् त कर्मणि । यहाँ 'हिंसाया प्रतेश्च' अर्थात् 'उप और प्रति पूर्वक कृ धातु को हिंसा अर्थ मे सुट् (स्) आगम हो जाता है', इस नियम से स् आ गया है ।

भावार्थ—तथाभूतमपि प्रभावशालिनं कुलिशकठोरं तं हिरण्यकशिपुं भवान् नृसिंहरूपमाधाय केवल कररुहैरेव तस्य वक्षःस्थलं विदार्य तं हतवान् ।

अथास्य जन्मान्तरचेष्टितान्याचष्टे—

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः ।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः ४८।

अन्वय—अथ सः पुनः त्रिदशैः समं रणेन दर्पजन्मनः कण्ड्वाः विनोदम् इच्छन् दिवः क्षतरक्षणं निकामभीषणं रावणो नाम रक्षः बभूव ।

अर्थ—इसके अनन्तर वही हिरण्यकशिपु देवताओं के साथ पुनः (होने वाले) युद्ध के द्वारा गर्व से उत्पन्न भुजाओं की खुजली को दूर करने की इच्छा से देवलोक की रक्षा नष्ट करने वाला अत्यन्त भयङ्कर रावण नाम का राक्षस हुआ ।

विनोदमिति ॥ अथ स हिरण्यकशिपुः पुनर्भूयोऽपि त्रिदशैः समं सह । 'साकं सार्धं समं सह' इत्यमरः । रणेन दर्पादन्तःसाराज्जन्म यस्यास्तस्याः कण्ड्वाः भुजकण्डूतेर्विनोदमपनोदमिच्छन् । प्राग्भवनखक्षतैस्तदपनोदाभावादित्यर्थः । दिवः स्वर्गस्य क्षतं नष्टं रक्षणं रक्षा येन तत् । क्षतद्युरक्षणमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । अनेन देवसर्वस्वापहारित्वमुक्तम् । भीषयत इति भीषणम् । नन्द्यादित्वाल्ल्युः । 'भियो हेतुभये षुक्' इति षुक् । निकामं भीषणं । 'सुप्सुपा' इति समासः । रावणो नाम इति प्रसिद्धः रक्षो बभूव । राक्षसयोनौ जात इत्यर्थः । विश्रवसोऽपत्यं पुमान्रावण इति विग्रह । 'तस्यापत्यम्' इत्यणि कृते 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' इति प्रकृते रवणादेशः । पौराणिकास्तु रावयतीति व्युत्पादयन्ति । तदुक्तमुत्तरकाण्डे—'यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम् । तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि ॥' इति रौतेर्ण्यन्तात्कर्तरि ल्युट् । रावणरक्षसोर्नियतलिङ्गत्वाद्विशेष्यभावेऽपि स्वलिङ्गता ।

व्याकरण—विनोदम् = वि+नुद्+घञ् भावे, तम् । दर्पजन्मनः—दर्पात् जन्म यस्याः सा दर्पजन्मा (ब० व्री०), तस्या ॥ कण्ड्वाः—कण्डू+क्विप् भावे स्त्रियाम्=कण्डूः, तस्याः ॥ निकामभीषणम्—भीषयते इति भीषणम् (भी+णिच्+ल्युः), निकामं भीषणम् इति निकामभीषणम् (सुप्सुपा समास) ॥ क्षतरक्षणम्—क्षत (विनष्ट) रक्षण (रक्ष्+ल्युट्) येन तत् क्षतरक्षणम् (ब० व्री०) ॥

कोष—कण्डू—"कण्डूः खर्जूश्च कण्डूया" इत्यमरः। निकाम—"काम प्रकाम पर्याप्त निकामेष्ट यथेप्सितम्" इत्यमरः ।

भावार्थ—अथ स एव भवता शातितो दैत्यः पुन. देवैः साकं तादृशमेव वैरमादधानः युद्धेन दर्पजन्यभुजकण्डूयनम् अपनोदयिष्यन् जन्मान्तरे रावणो नाम देवमहाभीतिजनको राक्षसो बभूव ।

अथास्यौद्धत्यमष्टादशश्लोक्याचष्टे—

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः ।
अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥४६॥

अन्वय—यः भुवनत्रयस्य प्रभुः बुभूषुः अतिरागात् दशमं शिरः चिकर्तिषुः इष्टसाहसः (सन्) इच्छासदृशं पिनाकिनः प्रसादम् विघ्नम् इव अतर्कयत् ।

अर्थ—त्रिभुवन के स्वामी बनने की इच्छा से अत्यन्त उत्साह-पूर्वक अपना दसवाँ सिर काटने को उद्यत जिस रावण ने साहसप्रेमी होने के कारण इच्छानुसार मिलने वाले शिव जी के वर को भी विघ्न सा ही समझा ।

प्रभुरिति ॥ यो रावणः भुवनत्रयस्य प्रभुः स्वामी बुभूषुर्भवितुमिच्छुः । भुवः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अतिरागादुत्साहात् । न तु फलविलम्बननिर्वेदादिति भावः । दशम शिरः चिकर्तिषुः कर्तितु छेत्तुमिच्छुः । 'कृती छेदने' इति धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः । इष्टसाहसः प्रियसाहसः अत एवेच्छासदृशमिच्छानुरूप पिनाकिनः प्रसादं वरं विघ्नमिति वातर्कयदुत्प्रेक्षितवानिति परमसाहसिकत्वोक्तिः । इ त आरभ्य श्लोकषट्केऽपि यच्छब्दस्य च रावणो नाम रक्षो बभूवेति पूर्वेणान्वयः । रङ्गराजस्तु 'न चक्रमस्याक्रमताधिकंधरम्' इति उपरिष्टादन्वय इत्याह । तदसत् । 'गुणानां च परार्थत्वात्' इति न्यायादारुण्यादिवत्प्रत्येकं प्रधानान्वयिनां मिथः सबन्धायोगादित्यल शाखाचङ्क्रमणेन । पुरा किल रावणः काम्ये कर्मणि पशुपतिप्रीणनाय नव शिरांस्यग्नौ हुत्वा दशमारम्भे सतुष्टात्तस्मात्त्रैलोक्याधिपत्य वव्रे इति पौराणिकी कथात्रानुसधेया ।

व्याकरण—बुभूषुः—भू+सन्+उ कर्तरि ॥ भुवनत्रयस्य— भुवनाना त्रयम् इति भुवनत्रयम् (ष० तत्पु०), तस्य (शेषे षष्ठी) ॥ दशमम्— दशाना पूरणम् इति दशमम् (दशन्+डट् = दशन्+मट् डट्) ॥ चिकर्तिषुः—कृत्+सन्+उ कर्तरि ॥ अतर्कयत्—तर्क्+णिच् स्वार्थे+ लङ् तिप् ॥ इष्टसाहसः—इष्टं साहस यस्य स इष्टसाहसः (ब० व्री०) ॥ इच्छासदृशम्—इच्छायाः सदृशः इच्छासदृशः (ष०तत्पु०), तम् । पिनाकिनः—पिनाकः अस्ति अस्य इति पिनाकी (पिनाक+ इनिः मत्वर्थे), तस्य ॥

कोषः—मृत्युञ्जयः कृत्तिवासाः पिनाकी प्रमथाधिपः इत्यमरः ।

भावार्थ—पुरा किल त्रिलोक्याः आधिपत्यमीप्सू रावणः स्वकीयैः नवभिः

शिरोभिः शिवमपूजयत् किन्तु यदा तथापि हरः प्रसन्नो नाभूत् तदा भक्त्युद्रेकात् परमसाहसिकः स शेष दशममपि शिरश्छेत्तुमैच्छत् । तेन शिवोऽपि तस्मै अतितरामतूतुषत् यथेप्सित वरमपि च ददौ ।

अथ कैलासोत्क्षेपणवृत्तान्तमाह —

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः ।
त्रसत्तुषाराद्रिसुतासंभ्रमस्वयग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ।५०।।

अन्वय—यः पृथिवीभृता वर समुत्क्षिपन् वरप्रदानस्य-शूलेन शकरस्य त्रसत्तुषाराद्रिसुतासम्भ्रमस्वयग्रहाश्लेषसुखेन निष्कयं चकार ।

अर्थ—जिस रावण ने पर्वतराज कैलास को ऊपर उठाकर वर देने वाले शिव जी को, डरती हुई हिमालय-कन्या पार्वती के वेगपूर्वक स्वय उनका कण्ठ पकडकर आलिङ्गन करने से उत्पन्न हुआ सुख देकर, प्रत्युपकृत किया ।

टिप्पणी—वस्तुतः रावण ने दर्प से कैलाम को उठाया था । पर कवि की कल्पना ने इस पौराणिक घटना को उपर्युक्त साहित्यिक एव हृदयग्राही रूप देकर अपनी सहृदयता और सरसता का उत्कृष्ट परिचय दिया है । कवि का कहना है कि कैलास के जोर से डगमगा जाने पर पार्वती जी स्त्रीजनसुलभ कातरता से शिव जी के कण्ठ मे बाहे डालकर उनसे लिपट गई और इस प्रकार बिना याचना किए ही शिव जी को त्रैलोक्याधिपत्य के वरदान से भी बढक र प्रियालिङ्गन सुख देकर रावण ने वर-प्राप्ति का मूल्य चुका दिया । कैसी अनूठ ी उक्ति है !

समुत्क्षिपन्निति ।। यो रावणः पृथिवीभृतां पर्वतानां वरं श्रेष्ठं कैलास समुत्क्षिपन् । दर्पादिति शेषः । शूलिनो वरप्रदानस्य पूर्वोक्तस्य । त्रसन्त्याः

शैलचलनेन बिभ्यत्यास्तुषाराद्रिसुताया पार्वत्याः ससंभ्रमो यः स्वयग्रहः प्रियप्रार्थना विना कण्ठग्रहणम् । 'सुप्सुपा–' इति समासः । तेन आश्लेषः संमेलनं तेन यत्सुखं तेन । त्रैलोक्याधिपत्यसुखादुत्कृष्टेनेति भावः । निष्क्रयं प्रत्युपकार-निर्गतिं चकार 'निष्क्रयो बुद्धि योगे स्यात्सामर्थ्ये निर्गतावपि' इति वैजयन्ती । यद्वा निष्क्रय चकार क्रयेण व्यवहारेण याञ्चादोषदैन्यं ममार्जे त्यर्थः । अत्र सुखवरदानयोर्विनिमयात्परिवृत्तिरलंकारः ॥

व्याकरण—समुत्क्षिपन्—सम्+उद्+क्षिप्+शतृ कर्तरि । **पृथ्वीभृताम्**—पृथिवी बिभ्रति इति पृथिवीभृत : (पृथिवी+भृ+क्विप् कर्तरि) उपपदतत्पु०, तेषाम् । **वरप्रदानस्य**—वरस्य प्रदान वरप्रदान (ष० तत्पु०), तस्य ॥ **शूलिनः**—शूलम् अस्ति अस्य इति शूली (शूल+इनिः मत्वर्थे), तस्य ॥ **त्रसत्तुषाराद्रिसुतामसम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन**—तुषाराद्रेः सुता इति तुषारा० (ष० तत्पु०) त्रसन्ती चासौ तुषाराद्रिसुता च इति त्रस—सुता (कर्मधा०) । ससम्भ्रमो यः स्वयग्रहः इति ससभ्रमस्वयंग्रहः (कर्मधा०), त्रसत्तुषाराद्रिसुतायाः ससम्भ्रमस्वयग्रहः इतित्रस—ग्रहः (ष० तत्पु०), तेन आश्लेषः, त्रस—श्लेषः (तृ० तत्पु०), तेन तस्य वा सुखम् (तृ० अथवा ष० तत्पु ०), तेन ॥ **निष्क्रयम्**—निर् अथवा निस्+क्री+अच् भावे=निष्क्रयः, तम् ॥

कोष—शूलिनः—'शवः शूली महेश्वरः'– इत्यमरः ।

सम्भ्रम—सम्भ्रमस्त्वरा—इत्यमरः

अलङ्कार—शिव जी ने रावण को वर दिया और रावण ने उन्हे पार्वती के आलिङ्गन का सुख दिया । इस प्रकार सुख और वरदान का परस्पर विनिमय

होने के कारण यहाँ परिवृत्ति नामक अलङ्कार है—"परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्"—सा० द०

भावार्थ—स रावण एकदा शिवनिवास त महागिरि कैलासमपि उदतोलयत् येन पर्वतप्रचलन । भीतिचकिता देवी पार्वती सत्वर शिवस्य कण्ठं सुदृढम् आलिलिङ्ग । इत्थ चाय राक्षसराजः देवाय प्रियालिङ्गनसुख विदधत् वरदानस्य प्रत्युपकारमिवाकरोत् ॥

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ५१

अन्वय—बली यः नमुचिद्विषा विगृह्य पुरीम् अवस्कन्द, नन्दन लुनीहि, रत्नानि मुषाण, अमराङ्गनाः हर; इत्थम् अहर्दिवं दिवः अस्वास्थ्य चक्रे।

अर्थ—जिस बली रावण ने इन्द्र के साथ विरोध करके अमरावती पर चढ़ाई की, नन्दन वन को छिन्न-भिन्न कर दिया, रत्न चुरा लिए तथा देवाङ्गनायें छीन ली। इस प्रकार उसने प्रतिदिन स्वर्ग मे उपद्रव कर रक्खा था।

पुरीमिति। यो बली बलवान्रावणो नमुचिद्विषा इन्द्रेण विगृह्य विरुध्य पुरीममरावतीमवस्कन्दावरुरोध। नन्दनमिन्द्रवनम्, 'नन्दनं वनम्' इत्यमरः लुनीहि चिच्छेद। 'ई हल्यघोः' इतीकारः। रत्नानि श्रेष्ठवस्तूनि मणीन्वा 'रत्नश्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः। मुषाण मुमोष। मुष स्तेये। हलः श्नः शानज्झौ इति श्नः शानजादेशः। अमराङ्गनाः हर जहार। सर्वत्र पौनःपुन्येनेत्यर्थः। इत्थमनेन प्रकारेण अहनि च दिवा चाहर्दिवम्। अहन्यहनीत्यर्थः। 'अचतुर—' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्तौ द्वन्द्वे समासान्तो निपातः। दिवःस्वर्गस्यास्वास्थ्यमुपद्रवं

चक्रे । अत्रावस्कन्देत्यादौ 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पेन कालसामान्ये लोट् । तस्य यथोपग्रह सर्वतिडादेशो हिस्वौ च । प्रकरणादिना त्वर्थविशेषावसानम् । 'अतो हेः' इति यथायोग्य हिलुक् । पौनःपुन्य भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः । अवस्कन्दनादिक्रियाविशेषाणा समुच्चयः क्रियासमभिहारः । तत्सामान्यस्य करोते. 'समुच्चये सामान्यवचनस्य' इत्यनुप्रयोगः चक्रे इति । अत्र तिड्वैचित्र्यात्सौशब्दाख्यो गुण. । सुपा तिडा परावृत्ति. सौशब्दम्' इति लक्षणात् । समुच्चयश्चालकारः ॥

व्याकरण—अवस्कन्द्—अव+स्कन्द्+ लोट् हि (भूतानद्यतनपरोक्ष-विषय)—यहाँ "समुच्चयेऽन्यतरस्याम्" ३/४/३ अर्थात् अनेक क्रियाओ के समुच्चय (समाहार) द्योतित होने पर धातु या धातुओ से सभी काल मे लोट् लकार तथा सभी पुरुष एव वचन मे (परस्मैपद से) हि तथा (आत्मनेपद से) स्व का प्रयोग होता है । इस नियम से परोक्षभूत अर्थ मे लोट लकार तथा प्रथमपुरुष के एकवचन के अर्थ मे हि का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार "लुनीहि,' 'मुषाण' तथा 'हर' मे भी समझना चाहिए । इस श्लोल मे 'चक्रे, क्रिया का अन्त मे प्रयोग हुआ है, समच्चयार्थ मे अनेक धातुओ के प्रयुक्त होने पर अन्त मे इस प्रकार की एक सामान्य अर्थ द्योतित करने वाली क्रिया का प्रयोग करना पडता है—"समुच्चये सामान्यवचनस्य" ३/४/५" उसी के काल, पुरुष तथा वचन द्वारा समुच्चयार्थ मे प्रयुक्त क्रियाओ के भी काल, पुरुष वचन आदि की अभिव्यक्ति (स्पष्टीकरण) हो जाती है—"समुच्चये लोड्विधौ सामान्यार्थस्य धातोरनुप्रयोगः स्यात् अनुप्रयोगाद् यथायथ लडादयस्तिबादयश्च । ततः सङ्ख्याकालयोः पुरुषविशेषार्थस्य चाभिव्यक्तिः ।" सि० कौ० ॥ यहाँ

मल्लिनाथ ने लोट् का प्रयोग क्रियासमभिहार मे माना है, जो वास्तव मे समीचीन नही समझ पडता, क्योकि क्रिया-समभिहार में एक तो उसी क्रिया को दो बार प्रयुक्त होना चाहिए था, (क्रियासमभिहारे द्वे वाच्ये-वा०) फिर अन्त मे उसी लोट् वाली क्रिया का ही वास्तविक काल, पुरुष, वचन के साथ अनुप्रयोग होना चाहिए था—"यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन्" ३।४।३ । अतएव मल्लिनाथ की इस व्याख्या पर भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त-कौमुदी मे कहा है—"इह पुनः पुनश्चस्कन्देत्यादिरर्थ इति तु व्याख्यानं भ्रममूलमेव द्वितीयसूत्रे क्रियासमभिहार इत्यस्याननुवृत्तेः । लोडन्तस्य द्वित्वापत्तेश्च ॥" लुनीहि—लु+लोट् (परोक्षभूतार्थे) हि ॥ मुषाण—मुष्+लोट् (परोक्षभूतार्थे) हि ॥ हर—हृ+लोट् (परोक्षभूतार्थे) हि ॥ अमराङ्गनाः—प्रशस्तात्यङ्गान्यस्याः इति अङ्गना (अङ्ग+न+टाप्—यहाँ 'अङ्गात् कल्याणे'-गण० ५।२।१०० से न प्रत्यय हुआ है) अमराणाम् अङ्गनाः इति अमरा० (ष०तत्पु०) । नमुचिद्विषा—न मुञ्चति इति नमुचिः (नञ्+मुच्+इन् औणादिक, कर्तरि) (नमुचि शुम्भ-निशुम्भ का तीसरा छोटा भाई था। इन्द्र ने जब इसका सिर जल के फेन से काट डाला तो उस कटे सिर ही ने इन्द्र का पीछा किया । अतएव उसे नमुचि कहा जाने लगा—"चिच्छेदास्य शिरो राजन्नपा फेनेन वासवः । तच्छिरो नमुचेश्छिन्न पृष्ठतः शक्रमन्वियात्—" मार्क० पु० ।) नमुचिं द्विष्टवान् इति नमुचिद्विट् (नमुचि+द्विष्+क्विप् भूते कर्तरि) उप०, तेन ॥ अस्वास्थ्यम्—स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः (स्व+स्था+क कर्तरि) तस्य भावः स्वास्थ्यम् । न स्वास्थ्यम् इति अस्वा-स्थ्यम् (नञ् तत्पु०) ॥ अहर्दिवम्—अहनि च दिवा च इति अहर्दिवम् (द्वन्द्वः) । यहाँ अचतुरविचतुर—५।४।७७" नियम से समासान्त अच् प्रत्यय हुआ है ।

अलङ्कार—यहाँ कई क्रियाओं का समुच्चय होने के कारण समुच्चय अलङ्कार है—"गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः"—अलङ्कारसर्वस्व ।

भावार्थ—बलवान् रावणः इन्द्रेण सह विरुध्य पुरीममरावतीम् अवरुरोध, नन्दनवनम् चिच्छेद, इन्द्रसम्बन्धीनि रत्नानि लुलुण्ठ, सुराङ्गनाश्च जहार, इत्थं च प्रत्यह त्रिदशालये आतङ्क प्रसारयामास ।।

सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् । ५२

अन्वय—संयति येन अनुद्रुतः बलस्य शत्रुः अभ्रमोः भर्तुः सलीलयातानि तथा उच्चैःश्रवसः चित्रं पदक्रमं न प्रशशंस, केवलं शीघ्रतां (प्रशशंस) ।

अर्थ—युद्ध मे जिस रावण द्वारा पीछा किए जाने पर बल (नामक राक्षस) के शत्रु इन्द्र ने अपने ऐरावत हाथी के लीलापूर्वक गमन तथा उच्चैः श्रवा घोडे की विविध चालो की प्रशंसा न की, केवल उनके शीघ्र गमन की ही प्रशंसा की ।

सलीलेति ।। संयति युद्धे । 'समुदायः स्त्रियां संयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । येन रावणेन अनुद्रुतोऽनुधावितः बलस्य शत्रुरिन्द्रः अभ्रमोर्भर्तुरैरावतस्य सलीलयातानि सभङ्गीकगमनानि न प्रशशंस तथा उच्चैःश्रवसः स्वाश्वस्य चित्रं नानाविधं पदक्रमं पादविक्षेपम् । अर्धपुलायितादिगतिविशेषमित्यर्थः । न प्रशशंस । किन्तु केवलं शीघ्रतां शीघ्रगामित्वमेव प्रशशंस । अन्यथा शीघ्रं मामास्कन्द्य ग्रहीष्यतीति भयादिति भावः ।।

व्याकरण— सलीलयातानि— लीलया सह सलीलानि (ब० व्री०)

सलीलानि च तानि यातानि (या+क्त भावे) इति सलीलयातानि (कर्मधा०)। पदक्रमम्—पदाना क्रमः (विक्षेपः) पदक्रमः (ष० तत्पु०) ॥ अनुद्रुतः—अनु+द्रु+क्त कर्मणि ॥ सयति—सयम्यते (शत्रुः) अस्याम् इति सयत् (सम्+यम्+क्विप् अधिकरणे), तस्याम् ॥

कोष—संयत्—"समुदायः स्त्रिया सयत् समित्याजिसमिद्युधः" इत्यमरः ।

अभ्रमुभर्ता—ऐरावतोभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः इत्यमरः ॥

भावार्थ - सङ्ग्रामेषु रावणेन निर्जितः पुरन्दर ऐरावत गजम् उच्चैः-श्रवस हयं वा आरुह्य बहुवार पलायितः तदा च महेन्द्राय तयोः द्रुतगामित्वमेव अभीष्टमासीत् नतु सविलासगामित्वम् ।

अशक्नुवन् सोढुमधोरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तर निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ५२

अन्वय—अधीरलोचनः कौशिकः सहस्ररश्मेः इव यस्य दर्शनं सोढुम् अशक्नुवन् हेमाद्रिगुहागृहान्तर प्रविश्य बिभ्यत् दिवसानि निनाय ।

अर्थ—सूर्य के समान (तेजस्वी) जिस रावण की ओर देखने मे भी असमर्थ, व्यग्र (कातर) दृष्टि वाले इन्द्र ने सुमेरु के गुहा-गृहो के भीतर घुसकर (भी) डरते हुए (ही) दिन बिताये थे ।

टिप्पणी—'कौशिक' पद श्लिष्ट है जिसके 'इन्द्र' और 'उलूक' दोनो ही अर्थ हैं परन्तु प्रस्तुत 'इन्द्र मात्र' का वाचक होने से कौशिक का 'उलूक' अर्थ श्लेष का नही, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण है और 'सहस्ररश्मेरिव' इस उपमान का निर्वाहक होने से यह वाच्यसिध्यङ्ग नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य

हो गया है। श्लोक का भाव यह है:—जैसे उलूक सूर्य की ओर न देख सकने से सूर्योदय होते ही गुफाओ मे छिपकर दिन बिताता है, उसी प्रकार तेजस्वी रावण की ओर न देख सकने के कारण इन्द्र ने भी सुमेरु की गुफाओ मे छिपकर दिन बिताया था।

अशक्नुवन्निति ॥ अधीरलोचनोऽस्थिरदृष्टिः कौशिको महेन्द्रः, उलूकश्च। 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः। सहस्ररश्मेः सूर्यस्येव यस्य रावणस्य विक्रमकर्मणो दर्शनं सोढुमशक्नुवन् हेमाद्रेर्गुहैव गृहं तस्यान्तरं प्रविश्य बिभ्यत्तत्रापि वेपमान एव। बिभेतेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः। दिवसानि वासराणि निनाय। वा तु क्लीबे दिवसवासरौ इत्यमरः। यथा पेचकः सूर्योदये भीतः सन् तिष्ठति, तथा सोऽपीति भावः। कौशिक इत्यभिधायाः प्रस्तुतैकगोचरत्वेनोभयश्लेषेऽपि विशेष्यश्लेषासंभवादुलूकविषयशब्द-शक्तिमूलो ध्वनिः। सहस्ररश्मेरिवेत्युपमानिर्वाहकत्वाद्वाच्यसिद्ध्यङ्गम् ॥

व्याकरण—अशक्नुवन्—न शक्नुवन् (शक्+शतृ कर्तरि) इति अशक्नुवन् (नञ् तत्पु०)॥ **सोढुम्**—सह्+तुमुन् ॥ **अधीरलोचनः**—अधीराणि लोचनानि यस्य सः (ब० व्री०)। **सहस्ररश्मेः**—सहस्रं रश्मयः यस्य स सहस्ररश्मिः (ब० व्री०), तस्य ॥ **हेमाद्रिगुहागृहान्तरम्**—हेमाद्रेःगुहा, हेमाद्रिगुहा (ष० तत्पु०), सैव गृहमहे मा० (कर्मधा०), तस्य अन्तरम् हेमा—न्तरम् (ष० तत्पु०) ॥ **निनाय**—नी+लिट् तिप् (णल्) ॥ **बिभ्यत्** - भी+शतृ कर्तरि ॥

अलङ्कार—यहाँ कौशिक मे यद्यपि श्लेष (महेन्द्र तथा उलूक दो अर्थ) विद्यमान हैं, किन्तु इसका प्रयोग विशेष्य (इन्द्र के नाम) के रूप मे ही

हुआ है, अतः वह श्लेष मान्य नहीं होगा, क्यो कि श्लेष विशेषण में मान्य होता है । अतः यहाँ कौशिक का केवल महेन्द्र ही अर्थ किया जायगा ।' 'सहस्र-रश्मेरिव' मे उपमालकार है ।

भावार्थ—दिवा सूर्यप्रकाशभयात् तरुकोटरेषु गुहादिषु वा विलीन उलूक इव महेन्द्रो रावणभयात् हेमाद्रिकन्दरसदनान्तरे प्रच्छन्नः भूयास काल यापयामास ॥

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकधरम् ॥५४॥

अन्वय—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् विकीर्णलोलाग्निकणम् अप्रसहिष्णु वैष्णवं चक्रं जगत्प्रभोः सुरद्विषः अस्य अधिकन्धर न अक्रमत ॥

अर्थ—जगत् के स्वामी एवं देवो के शत्रु इस रावण के विशाल एव शिला जैसे कठोर कण्ठ से टकराने के कारण निकलती हुई चञ्चल चिनगारियो वाला, इसे पराजित करने मे असमर्थ भगवान् का सुदर्शन चक्र इसकी ग्रीवा तक न पहुँच सका (प्रतिहत हो गया) ।

बृहच्छिलेति ॥ बृहति शिलेव निष्ठुरे कण्ठे घट्टनादभिघाताद्विकीर्णा विक्षिप्ताः लोलाश्चाग्निकणाः स्फुलिङ्गा यस्य तत् । अत एवाप्रसहिष्णु अनभिभावकम् । प्रसहनमभिभव इति वृत्तिकारः । 'अलकृञ्—' इत्यादिना इष्णुच् । वैष्णव चक्र सुदर्शन जगत्प्रभोः सकललोकैकस्वामिनः । अस्य सुरद्विषो रावणस्य कधरायामधि अधिकंधरमधिग्रीवम् । बिभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'अव्ययीभावश्च' इति नपुसकत्वात् 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवाया शिरोधिः कधरेत्यपि' इत्यमरः । नाक्रमताप्रतिहत न क्रमते स्म न प्रवर्तते

स्म। किंतु प्रतिहतमेवेत्यर्थः। 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' इति वृत्तावात्मनेपदम्। वृत्तिरप्रतिबन्धः॥

व्याकरण—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्—शिला इव निष्ठुरः शिलानिष्ठुरः (उपमानकर्मधा०)। तादृशः कण्ठः, शि–कण्ठः (कर्मधा०), बृहन् य शिलानिष्ठुरकण्ठः इति—(कर्मधा०), तेन घट्टनम् बृ—घट्टनम् (सुप्सुपा समास), तस्मात्॥ **विकीर्णलोलाग्निकणम्**—विकीर्णाः (वि+कृ+क्त कर्मणि) लोलाः अग्निकणाः यस्य तत् वि—कणम् (ब० व्री०)। **अप्रसहिष्णु**—न प्रसहिष्णु (प्र+सह्+इष्णुच् कर्तरि) इति (नञ् तत्पु०)॥ **वैष्णवम्**—विष्णोरिदम् वैष्णवम् (विष्णु+अण्)॥ **अक्रमत**—क्रम+लङ् त। **अधिकन्धरम**—कन्धरायामिति अधिकन्धरम् (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः)

भावार्थ—रावणस्य प्रस्तरशिलाघने कण्ठे विष्णुना प्रहृत चक्रमपि क्षतं कर्तुं नापारयत्॥

कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकम् प्रकम्पयामास न मानसं न सः॥५५॥

अन्वय—स मदेन दन्ती इव विभिन्नशखः कलुषीभवत् निरस्तगाम्भीर्यम् अपास्तपुष्पक मनुष्यधर्मणः मानसं मुहुर्न कम्पयामास (इति) न।

अर्थ—नीरस्राव के कारण सरोवर के शखो को तोड़ फोड़कर, उसको गन्दा करके, उसकी गहराई की उपेक्षा करके तथा उसके पुष्पों को छिन्न-भिन्न करके उसे मथ देने वाले हाथी के समान रावण ने अपने बल के गर्व से कुबेर की शंख नामक निधि को तोड़ कर एवं पुष्पक विमान को छीन उनके अत्यन्त

क्षुब्ध एव अधीर (कातर) चित्त को बारम्बार नही कँपाया—ऐसा नही (अर्थात् कँपाया ही)।

विभिन्नेति ॥ स रावणो मदेन दर्पेण, इभदानेन च। 'मदो दर्पेभदानयोः इति विश्वः। दन्तीव गज इव विभिन्नो विघट्टितः शङ्खो निधिभेदः, कम्बुश्च येन सः सन् 'शङ्खा निध्यन्तरे कम्बुललाटास्थिनखेषु च' इति विश्व.। अकलुष कलुष क्षुब्धमाविल च भवत्कलुषीभवत्। निरस्त गाम्भीर्यमविकारित्वम् अगाधत्व च यस्य तत्। अपास्तानि पुष्पाणि, पुष्पक विमान च यस्मात्तत्। पुष्पपक्षे वैभाषिकः कप्प्रत्ययः। मनुष्यस्येव धर्मः श्मश्रुलत्वादिर्यस्येति स्वामी। तस्य मनुष्यधर्मणः। 'धर्मादनिच् केवलात्' इत्यनिच्। मानस चित्त, तदीयं सरश्च। 'मानस सरसि स्वान्ते' इति विश्वः। मुहुर्न कम्पयामास न क्षोभयामासेति न। किंतु कम्पयामासैवेत्यर्थ.। कुबेरस्य महामहिमतया सभाविताप्रकम्पित्वनिवारणाय नञ्द्वयम्। 'सभाव्यनिषेधनिवर्तने नञ्द्वयम्' इति वामनः। अत्र दन्तिरावणयोः प्रकृताप्रकृतयोः श्लेषः।

व्याकरण—विभिन्नशङ्ख—विभिन्नः (वि+भिद्... क्त कर्मणि) शङ्खः येन सः विभिन्नशङ्खः (ब० व्री०)॥ कलुषीभवत्—अकलुषं कलुषं भवत् इति कलुषीभवत् (कलुष+च्वि+भू+शतृ कर्तरि) गतितत्पु० ॥ मनुष्यधर्मणः—मनुष्यस्य धर्म इव धर्मो यस्य सः मनुष्यधर्मा (मनुष्य+धर्म+अनिच (ब० व्री०), तस्य। यद्वा 'धर्मादनिच् केवलात्' अर्थात् 'यदि बहुव्रीहि के अन्त मे धर्म शब्द हो जिससे पूर्व एक ही पद हो तो समासान्त अनिच् प्रत्यय लगता है—इस नियम से अनिच् प्रत्यय लगा है। निरस्तगाम्भीर्यम्—निरस्त (निर्+अस्+क्त कर्मणि) गाम्भीर्यं यस्य तत् नि—र्यम्

(ब० व्री०)॥ अपास्तपुष्पम्—अपास्त (अप+अस्+क्त कर्मणि) पुष्पं पुष्पक वा यस्मात् तत् अपास्तपुष्पकम् (ब० व्री०)॥ प्रकम्पयामास—प्र+कम्प+णिच्+लिट् तिप् ॥

कोष—मनुष्यधर्मा—"कुबेरस्त्र्यम्बकसखो यक्षराड् गुह्यकेश्वरः। मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाधिपः ॥" इत्यमरः

अलङ्कार—यहा सभी विशेषण दन्ती (गज) तथा रावण के लिए समान रूपसे प्रयुक्त हुए है, अतः श्लेष अलङ्कार है।

भावार्थ—यथा मदोन्मत्तो मतङ्गः सरोवर प्रविश्य तत्रस्थानि शङ्खादिरत्नानि विनाशयति जल मलिनयति तस्य गाम्भीर्यमालोडयति पुष्पाणि उन्मूलयति, समस्तं सरश्च प्रकम्पयति तथैव स रावणः कुबेरस्य (नगरी प्रविश्य) शङ्खनिधि विलुण्ठ्य पुष्पक हृत्वा तस्य मानस भीतिभीतम् अधीर च चकार।

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुंकारपराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥५६॥

अन्वय—रणेषु प्रचेतसा प्रहिताः उरगराजरज्जवः तस्य सरोषहुंकारपराङ्मुखीकृताः (अतएव) सभयाः जवेन प्रहर्तुः एव कण्ठं प्रपेदिरे।

अर्थ—रणभूमि मे वरुण द्वारा चलाये गए नागपाश क्रोधपूर्वक किए गए उसके हुंकार से पराङ्मुख होकर भयपूर्वक प्रहर्ता वरुण के कण्ठ मे ही वेग के साथ फिर आ लिपटे।

रणेष्विति॥ किंच रणेषु प्रचेतसा वरुणेन प्रहिताः प्रयुक्ता उरगराजा महासर्पास्ते रज्जव इव उरगराजरज्जवः। नागपाशा इत्यर्थः॥ तस्य रावणस्य

सरोषहुंकारेण पराङ्मुखीकृता व्यावर्तिताः। अत एव सभयाः सत्यः जवेन वेगेन प्रहर्तुः प्रयोक्तुः प्रचेतस एव कण्ठं प्रपेदिरे प्राप्ताः। अत्र परहिंसाप्रयुक्तस्यायुधस्य वैपरीत्येन स्वकण्ठग्रहणादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालंकारः। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्' इति लक्षणात् ॥

व्याकरण—प्रहिताः—प्र+हि प्रेरणे+क्त कर्मणि। सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः—परा अञ्चन्ति इति पराञ्चि (परा+ अञ्च्+ क्विन् कर्तरि) परा अञ्चन्ति मुखानि यासां ताः पराङ्मुखाः (ब० व्री०) अपराङ्मुखाः पराङ्मुखाः कृता इति पराङ्मुखीकृताः (पराङ्मुख+च्वि+कृ+क्त कर्मणि) गतितत्पु० सरोषश्चासौ हुङ्कारश्च इति स-ङ्कारः (कर्मधा०) तेन पराङ्मुखीकृताः सरोष—कृताः (तृ०तत्पु०)। उरगराजरज्जवः—उरसा गच्छन्ति इति उरगाः (उरस्+गम् +ड कर्तरि) उपपदतत्पु०, तेषां राजानः इति उरगराजाः (उरगराजन्+टच् समासान्त) ष० तत्पु०। ते रज्जव इव इति उरग—रज्जवः (उपमितकर्मधा०)

कोष—प्रचेतस्—"प्रचेताः वरुणः पाशी यादसांपतिरप्पतिः"।

अलङ्कार—यहाँ दूसरे को मारने के लिए प्रयुक्त हुआ अस्त्र उलटे अपने ही गले में आ लिपटा अतः विषमालङ्कार हुआ—"विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्" सर्वङ्कषा।

भावार्थ—सङ्ग्रामे वरुणेन रावणोपरि प्रयुक्ताः महानागपाशाः रावणस्य सरोषहुङ्कारैः परावर्तिताः वरुणस्यैव कण्ठं जगृहुः।

परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥५७॥

अन्वय—अमुना धनुः विधातुम् उत्खातविषाणमण्डलः परेतभर्तुः महिषः भारे हृते अपि महतः त्रपाभरात् भृशानतं शिरो दुःखेन उवाह ।

अर्थ—इसी रावण द्वारा धनुष बनाने के लिए उखाडी हुईं सींगो वाला यमराज का (वाहन) भैंसा सींगभार के दूर कर दिए जाने पर भी लज्जा के महान् भार से अत्यन्त झुके हुए अपने सिर को दुःख से वहन करता था ।

परेतभर्तुरिति ॥ अमुना रावणेन धनुः शार्ङ्गं विधातु निर्मातुमुत्खात-मुत्पाटितं विषाणयोः शृङ्गयोर्मण्डलं वलयं यस्य स परेतभर्तुर्यमस्य महिषः । वाहनभूत इति भावः । भारे विषाणरूपे । भृञो घञ् । हृतेऽपि महतस्त्रपैव भरस्तस्मात् 'ततोऽपि दुर्भरादिति भावः । भृधातोः क्रैयादिकात् 'ऋदोरप्' इत्यप्प्रत्ययः । भृशमत्यर्थमानतं नम्रं शिरो दुःखेनोवाह वहति स्म । 'असंयोगा-ल्लिट् कित्' इति कित्वात् 'वचिस्वपि' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । हृतेऽपि भारे नतमिति विरोधः । तदनुप्राणिता चेयमवनतिहेत्वसाधर्म्यात्त्रपाभारत्वो त्प्रेक्षा ॥

व्याकरण—परेतभर्तुः—परेताना (परा+इ+क्त कर्तरि) भर्ता प—भर्ता (ष० तत्पु०), तस्य । उत्खातविषाणमण्डलः—उत्खात (उद्+खन्+क्त कर्मणि) विषाणयोः मण्डलं यस्य स उत्खात—मण्डलः (ब० व्री०) त्रपाभरात्—त्रपायाः भरः (भृ+अप् भावे) त्रपाभरः (ष० तत्पु०), तस्मात् । उवाह —वह्+लिट्+तिप् णल् । भृशानतम्—भृशम् आनतम् इति भृशानतम् (सुप्सुपा) ।

कोष—परेतभर्ता— धर्मराजः पितृपतिः समवर्ती परेतराट् । कृतान्तो

यमुनाभ्राता शमनो यमराड् यम. इत्यमर ॥ विषाण— विषाण स्यात् पशुशृङ्गे भदन्तयोः इत्यमर.

अलंकार—यहाँ 'हृतेऽपि भारे नतम्' मे विरोधाभास अलङ्कार है, और फिर 'त्रपाभरात्' मे उसी विरोध से अनुप्राणित उत्प्रेक्षा है जो शिरोवनति के हेतु के रूप मे की गई है।

भावार्थ—रावण स्वधनुर्विधित्सया यममहिषस्य शृङ्गमेव उत्पाटितवान् येन निर्विण्णोऽसौ महिष सदैव व्रीडावनत एव तिष्ठति।

स्पृशन्सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलंचकारास्य वधूरहस्करः ॥५८॥

अन्वय—अहस्करः शुचौ समये स्थितः अपि असमग्रपातिभिः कराग्रैः सशङ्कः स्पृशन् अघर्म घर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः अस्य वधूः अलञ्चकार।

अर्थ—ग्रीष्म ऋतु मे स्थित रहकर भी सूर्य अपनी सकुचित किरणो के (केवल) अग्रभाग से भयपूर्वक स्पर्श करता हुआ इसकी स्त्रियो को शीतल स्वेदबिन्दु रूपी मोतियो से अलकृत करता था।

स्पृशन्निति ॥ अहः करोतीत्यहस्करः सूर्यः। 'दिवाविभानिशा—' इत्यादिना टप्रत्ययः। कस्कादित्वात्सत्वम्। शुचौ समये ग्रीष्मकाले, अनुपहते आचारे च स्थितोऽपि। 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोरपि। ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः। समय' शपथाचारकालसिद्धान्तसविद' इत्यमरः। असमग्रपातिभिः। सकुचितवृत्तिभिरित्यर्थः। कराणामशूना, हस्तानां चाग्रै। 'बलिहस्तांशव कराः' इत्यमरः। सशङ्कः स्पृशन्। अविश्वासभयादिति भावः। अघर्मा अनुष्णाः घर्मोदकबिन्दवः स्वेदोदबिन्दव। 'मन्थौदन—' इत्यादिना

विकल्पादुदकशब्दस्योदादेशाभावः। तैरेव मौक्तिकैरस्य वधूरलञ्चकार। ग्रीष्मे तद्भयान्नासह्य तपतीत्यर्थः। अत्र प्रस्तुतसूर्यविशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतप्रसाधक-प्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥

व्याकरण—असमग्रपातिभिः—असमग्र यथा तथा पतन्ति इति असमग्र-पातीनि (असमग्र+पत्+णिनिः कर्तरि) उप० तत्पु०, तैः। अघर्मघर्मोद-कबिन्दुमौक्तिकैः—न घर्मा अघर्माः (नञ् तत्पु०), उदकस्य बिन्दवः उदक-बिन्दवः (ष० तत्पु०), घर्मस्य उदकबिन्दव इति घर्मो-वः (कर्मधा०), अघर्माश्च ते घर्मो-वः, अघ-वः (कर्मधा०) त एव मौक्तिकानि इति अघर्म—कानि (कर्मधा०), तैः। अलञ्चकार—अलम्+ कृ+लिट् तिप् (णल्)। अहस्करः—अहः करोति इति अहस्करः (अहन्+कृ +ट कर्तरि)।

कोष—अहस्कर· "भास्कराहस्करब्रध्नप्रभाकरविभाकरा." इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ सूर्य (प्रस्तुत) के 'शुचौ अपि स्थितः असमग्रपातिभिः कराग्रैः सशकः स्पृशन्'—इन विशेषणो मे 'शुचि' का 'शुद्ध आचार, तथा 'कराग्र' का 'हस्ताग्र' भी अर्थ होने के कारण उससे प्रसाधक (सजानेवाले) (अप्रस्तुत) की प्रतीति होती है, अतः यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है—"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः"—सा० द०

भावार्थ—सूर्यः ग्रीष्मर्तावपि रावणभीत्या कतिपयैरतिमृदुभिरेव स्वकिरणैः तस्य प्रियाः स्पृशन् मुक्तासदृशैः स्वेदबिन्दुभिस्ता अलञ्चकार॥

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना॥५६॥

अन्वय—कलासमग्रेण, गृहान् अमुञ्चता, मनस्विनीः उत्कयितुं पटीयसा, रतिं वितन्वता इन्दुना विलासिनः तस्यनर्मसाचिव्य न अकारि (इति) न

अर्थ—अपनी समस्त कलाओ के साथ (रावण के) भवन को कभी न छोड़ता हुआ, मानिनियो को (केलि के लिए) उत्कण्ठित करने मे परम चतुर एवं इस विलासी रावण के विषयराग को बढाता हुआ चन्द्रमा कामक्रीडा के विषय मे उसका मन्त्रित्व नही करता था—ऐसा नही (अर्थात् करता ही था)।

कलासमग्रेणेति ॥ कलाभिः षोडशांशैः शिल्पविद्याभिश्च समग्रेण संपूर्णेन। 'काले शिल्पे विद्वृद्धौ चन्द्रांशे कलने कला' इति वैजयन्ती। गृहानमुञ्चता सदा तद्गृहेष्वेव वसता। दण्डभयात्सेवाधर्मत्वाच्चेति भावः। मनस्विनीर्मानिनीरुत्का उत्सुकाः कर्तुम् उत्कयितुम्। 'उत्क उन्मनाः' इति निपातनादुत्कशब्दात् 'तत्करोति—' इति ण्यन्तात्तुमुन्। पटीयसा मानभेदचतुरेणेत्यर्थः। कुतः। रतिं वितन्वता चन्द्रिकाभिश्चतुरोक्तिभिश्च रागं वर्धयता इन्दुना विलासिनो विलसनशीलस्य। 'वौ कषलस—' इत्यादिना घिनुण् प्रत्ययः। तस्य रावणस्य नर्मसाचिव्यं क्रीडासबन्ध्यधिकारित्वे सचेष्टत्वम्।' 'लीला क्रीडा च नर्म च' इत्यमरः। नाकारीति न। किंत्वकार्येवेत्यर्थः। अनौचित्यात्प्राप्तनर्मसाचिव्यनिषेधनिवारणार्थं नञ्द्वयम्। 'संभाव्यनिषेधनिवर्तने नञ्द्वयम्' इति वामनः। अत्रेन्दोः प्रकृतस्याप्रकृतेन नर्मसचिवेन श्लेषः ॥

व्याकरण—कलासमग्रेण—कलाभिः समग्रःक—ग्रः (सुप्सुपा), तेन। उत्कयितुम्—उत्कः कर्तुम् इति उत्कयितुम् (उत्क+णिच्+तुमुन्)। पटीयसा—अतिशयेन पटुः इति पटीयान् (पटु+ईयसुन्) तेन। विलासिनः–वि+लस्+घिणुन् कर्तरि=विलासी, तस्य ॥ नर्मसाचिव्यम्-नर्मणि साचिव्यम् इति नर्मसाचिव्यम् (सुप्सुपा)। अकारि—कृ+लुङ्+त कर्मणि ॥

कोष—'समग्रं सकल पूर्णमखण्डं स्यादनूनके' इत्यमरः ।

अलङ्कार—"यहाँ प्रस्तुत इन्दु का अप्रस्तुत नर्मसचिव के साथ श्लेष हुआ है'—सर्वङ्कषा

भावार्थ—सकलकलासम्पूर्णश्चन्द्रः सदा रावणगृहे विद्यमानः मानिनीना काममुद्दीपयन्, विलासिनस्तस्य च रतिं वर्द्धयन् क्रीडासचिवतामिव निर्वाहयति स्म ॥

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनमनेन मानिना ।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥६०॥

अन्वय—मानिना अनेन विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनं जातु उद्धृतं वैनायकम् एक विषाणम अद्यापि पुनः न प्ररोहति ।

अर्थ—इस अहंकारी रावण के द्वारा अपनी चतुर विलासिनी स्त्रियो के लिए उपयुक्त कर्णभूषण बनाने की इच्छा से निश्चय ही कभी उखाडा गया गणेश जी का एक दन्त आज तक भी फिर नही जम रहा है ।

विदग्धेति ॥ मानिनाहंकारिणा अनेन रावणेन विदग्धलीलाः चतुरविलासिन्य इत्यर्थः । तासामुचिताश्च ता दन्तपत्रिकाश्च कर्णभूषणानि । 'विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रिका' इति साधीयान्पाठः । अन्यथा विप्रकृष्टार्थप्रतीतिकत्वेन कष्टाख्यार्थदोषापत्तेः । 'कष्टं तदर्थाविगमो दूरायत्तो भवेत्' इति लक्षणात् । अत्र विलासिनीना या विभ्रमदन्तपत्रिका विभ्रमार्थानि ता दन्तमयपत्राणि । विभ्रमदन्तशब्दयोः षष्ठीसमासगर्यत्रसानातादर्थ्यल।र ः। तासा विधित्सया विधातुमिच्छया । विपूर्वाद्धातेः 'सनि मीमा—, इत्यादिना अच इस् । 'सः सि' इति तकार । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । ततः 'स्त्रियाम्' इत्यनुवृत्तौ 'अ प्रत्ययात्' इत्यकारप्रत्यये टाप् ।

नूनं निश्चितं जातु कदाचिदपि। 'कदाचिज्जातु' इत्यमरः। उद्धृतमुत्पाटितं विनायकस्य गणेशस्येदं वैनायकम् एव विषाणं दन्तः। 'विषाणं पशुशृङ्गे स्यात्क्रीडाद्विरददन्तयोः इति विश्वः। अद्यापि पुनर्न प्ररोहति न प्रादुर्भवति। प्रपूर्वात् 'रुह प्रादुर्भावे' इत्यस्माल्लट्। किमन्यदकार्यमस्येति भावः। एतदन्यथा कथं गजाननस्यैकदन्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते नूनमिति ॥

व्याकरण—विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया—लीलाः सन्ति आसाम् इति लीलाः (लीला+अच् मत्वर्थे। विदग्धाश्च ताः लीलाश्चेति विदग्धलीलाः (कर्मधा०)। अथवा विदग्धाः लीलाः यासां ताः विदग्धलीला (ब० व्री०), तासाम् उचिताः वि—ताः (ष० तत्पु०), तादृश्यः दन्तपत्रिकाः वि—काः (कर्म०) तासां विधित्सा (वि+धा+सन्+अ भावे+स्त्रियां टाप्) वि—त्सा (ष० तत्पु०), तया ॥ मानिना—मानः अस्ति अस्य इति मानी (मान+इनिः मत्वर्थे) तेन। वैनायकम्—विनयति विघ्नान् अपाकरोति इति विनायकः (वि+नि+ण्वुल् कर्तरि) तस्य इदं वैनायकम् (विनायक+अण्)।

अलङ्कार—गणेश जी एकदन्त हैं। पर ऐसा क्यों है? कवि की उत्प्रेक्षा है कि रावण ने आवश्यकता पड़ने पर जड़ से एक दाँत उखाड़ लिया, अतः वह आज तक जमा नहीं। इस उत्प्रेक्षा का सूचक 'नूनम्' पद है।

भावार्थ—नूनं कदाचित् रावणः स्ववधूकर्णभूषणनिर्मिमित्सया गणेशस्य एकं दन्तम् उत्पाटितवान् येन तदाप्रभृति स देवः एकदन्त एव जातः ॥

निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाप्यूरुषु लोलचक्षुषः।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः ॥६१॥

अन्वय—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा अपि ऊरुषु लोलचक्षुषः तस्य प्रियेण प्रकम्पनेन अनपराधबाधिताः सुराः अनुचकम्पिरे।

अर्थ—अन्त पुर की रमणियो के वस्त्र उडा (खिसका) देने का स्पष्ट अपराध करने पर भी उनके (नग्न) जघो पर सतृष्ण दृष्टि से देखनै वाले उस रावण के प्रिय वायु ने निरपराध पीडित किए गए देवताओ पर अनुकम्पा की।

टिप्पणी—भाव यह है कि यद्यपि वायु ने रावण के अन्तःपुर मे प्रवेश करके तथा उसकी रमणियों के जंघों पर से वस्त्र उडा कर उन्हे नगी कर देने का महान् अपराध किया, तथापि रुष्ट होने के बदले वह वायु से अत्यन्त प्रसन्न हुआ, क्योंकि नंगी जाँघों को देखने के लिए लालायित विलासी रावण की तृषित आँखें तृप्त हो गईं। उसके पुरस्कार रूप में वायु ने निरपराध दण्ड दिए गए स्वजातियों [देवों] पर अनुकम्पा करके उन्हें दण्डमुक्त करा दिया।

निशान्तेति ॥ निशान्तं गृहम् 'निशान्तं गृहशान्तयोः' इति विश्वः। तत्र या नार्यः। शुद्धान्तस्त्रियः इत्यर्थः। तासां परिधानान्यन्तरीयाणि। 'अन्तरीयोपसव्यानपरिधानान्यधोऽशुके' इत्यमरः। तेषा धूननं चालनम्। धूञो ण्यन्तात्ल्युट्। 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति नुक्। तेन स्फुटागसा व्यक्तापराधेनापि। अन्तःपुरद्रोहस्य महापराधत्वादिति भावः। ऊरुषु तासा सक्थिषु लोलचक्षुषः सतृष्णदृष्टेः। 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इति, 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इति चामरः। अतएव तस्य रावणस्य प्रियेण प्रमोदास्पदभूतेनाङ्गीकृतः। ग्लानिर्न दोषायेति न्यायादिति भावः। प्रकम्पनेन वायुना अनपराधेऽपराधाभावेऽपि बाधिताः। राजपुरुषैरिति शेषः। सुरा अनुचकम्पिरे। स्वयमुपायेनान्तः

प्रविश्यानपराधबाधातिवेदनेन मोचयता वायुनानुकम्पिता इत्यर्थः । एकस्य वैदग्ध्याद्बहवो जीवन्तीति भावः ॥

व्याकरण—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा—निशान्ते (गृहे) नार्यः इति नि—र्यः (सुप्सुपा) तासा परिधानानि (ष० तत्पु०) तेषा धूनन (ष० तत्पु०) तेन स्फुटम् आगः यस्य सः निशा—स्फुटागाः(ब०व्री०) तेन ॥ **लोलचक्षुषः**—लोले चक्षुषी यस्य स लोलचक्षूः (ब० व्री०) तस्य ॥ **अनपराधबाधिताः**—न अपराधः अनपराध. (नञ् तत्पु०), अनपराधे बाधिताः अन—ताः (सुप्सुपा) । **अनुचकम्पिरे**—अनु+कम्प्+लिट् भ (इरे)

कोष—**निशान्त**—निशान्तपस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम् । **आगस्**—पापापराधयोरागः इत्यमरः । **प्रकम्पन**—प्रकम्पनो महावातः इत्यमरः ।

भावार्थ—पवनोऽन्तःपुरे सुन्दरीणा जघनस्थलात् वसनापसारणेन विलासिनः रावणस्य प्रियमाचरन् प्रसादरूपेण तस्मात् निरपराधपीडितान् देवान् मोचयामास ॥

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम् ।
बभार बाष्पैर्द्विगुणीकृत तनुस्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः ॥६२॥

अन्वय—तस्य महीयसा महसां जनाभिभाविना महिम्ना मुहुः तिरस्कृतः तनुः तनूनपात् आधिजैःबाष्पैः द्विगुणीकृतं धूमवितानं बभार ॥

अर्थ—उस रावण के महान् तेज की लोकविजयी महिमा से बार-बार पराभूत होने के कारण [ही] कृश अग्निदेव अपनी मनोव्यथा से उत्पन्न निःश्वासो की ऊष्मा [भाप] के कारण दुगुना धूमण्डल धारण करते थे ।

टिप्पणी—भाव यह है कि तेजस्वी रावण के समक्ष अग्नि भी निस्तेज हो गए थे। अब वे तेजोराशि न रह कर केवल धूमसमूह रह गए थे॥

तिरस्कृत इति॥ किंच तस्य रावणस्य जनाभिभाविना लोकतिरस्कारिणा महीयसामतिमहतां महसां तेजसा महिम्ना महत्त्वेन। 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इतीमनिच्। मुहुस्तिरस्कृतः अत एव तनुः कृशः। तनु न पातयति जाठररूपेण शरीरं धारयतीति तनूनपादग्निरिति स्वामी। 'नभ्राट्—इत्यादिसूत्रेण निपातनान्नञो नलोपाभावः। आधिजैर्दुःखोत्थैर्बाष्पैः निःश्वासोष्मभिः। 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इति विश्वामरौ। द्वौ गुणावावृत्ती यस्य सद्विगुणः। ततश्च्विः। द्विगुणीकृत द्विरावृत्तम्। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। धूमवितान धूममण्डलं बभार। अग्निरपि तत्सनिधौ निस्तेजस्को धूमायमान आस्त इत्यर्थः। धूमद्वैगुण्यासबन्धे संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिः॥

व्याकरण—तिरस्कृतः—तिरस्+कृ+क्त कर्मणि (गति तत्पु०)। जनाभिभाविना—जनान् अभिभवति इति जनाभिभावी (जन+अभि+भू+णिनिः) उप० तत्पु०, तेन॥ महिम्ना=महतो भाव महिमा (महत्+इमनिच्—"पृथ्वादिभ्य इमनिच् वा" ५।१।१२२ नियम से इमनिच् हुआ), तेन॥ महीयसाम्=अतिशयेन महान्ति इति महीयांसि (महत्+ईयसुन्), तेषाम्॥ द्विगुणीकृतम्—द्वौ गुणौ यस्य तत् द्विगुणम् (ब०व्री०। अद्विगुणं द्विगुणं कृतम् इति द्विगुणीकृतम् (द्विगुण+च्विः+कृ+क्त कर्मणि) गतितत्पु०॥ तनूनपात्=न पातयति इति नपात् (नञ्+पत्+णिच्+क्विप् कर्तरि) नञ् तत्पु०। तन्वाः नपात् इति तनूनपात् (ष० तत्पु०)॥ आधिजैः—आधेः जायन्ते आधिजाः (आधि+जन्+ड कर्तरि भूते) (उप० तत्पु०), तैः॥

कोषः—तनूनपात्—"कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्" ।

अलंकार—यहां अग्नि को तेजोविहीन दुगुना धूमवितान मात्र कहा गया है, जो बात वास्तव मे उनमें नही है, अतः यह असम्बन्ध मे सम्बन्धरूप अतिशयोक्ति अलङ्कार का उदाहरण है ।

भावार्थ—रावणस्य अतिमहतां तेजसां लोकातिगेन महत्त्वेन भूयोभूयः भर्त्सितः अतएव कृशः अग्निः निर्विण्णः सन् स्वैर्निःश्वासोष्मभिः द्विगुणं धूममण्डलं दधौ । इदमुक्तं भवत्यनेन यत् पूर्वं स्वलिङ्गभूतधूमसमन्विततेजोराशिरूपोऽग्निः इदानी रावणतेजसः समक्षं निस्तेजस्कत्वात् धूममात्रावशिष्टो विद्यते ।

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः ।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता ॥६३॥

अन्वय—इद्धं तम् आराधयितुं परस्य मर्माविधं निजं द्विजिह्वतादोषम् उज्झतां फणिनाम् अजिह्मगामिभिः सकर्णकै कुलैः भुजङ्गता न भेजे ॥

अर्थ—उस उग्र रावण को प्रसन्न करने के लिए सर्पों ने दूसरों के मर्मस्थल को भेदने वाले अपने दृष्टिविष दोष को छोड़कर, सीधी चाल चलकर तथा कर्णयुक्त होकर [अर्थात् आँखो से सुनने की आदत छोडकर] सर्पता का परित्याग कर दिया ॥ ध्वन्यर्थ—एवं खलो ने भी दूसरो के रहस्यों को खोलने वाले अपने सूचकत्व दोष तथा छल-कपट को छोड़कर और नियन्त्रण में रहकर खलत्व का परित्याग कर दिया ।

परस्येति ॥ किंच इद्धं दीप्तम् । उग्रमित्यर्थः । 'इन्धी दीप्तौ' कर्तरि क्तः । तं रावणमाराधयितुं सेवितुं परस्य स्वेतरस्य मर्माणि हृदयादिजीवस्थानानि

कुलाचारव्रतानि च विध्यतेः क्विप् 'ग्रहिज्या—'इति संप्रसारणम् । 'नहिवृति—' इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः । तं मर्माविध निज स्वीयं द्विजिह्वतायां सर्पत्वे यो दोषो दृष्टिविषत्वादिस्तम् । अन्यत्र द्विजिह्वता पिशुनता । 'द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ' इत्यमरः । सैव दोषस्तमुज्झता त्यजता फणिना संबन्धिभिरजिह्मगामिभिः करचरणादिमद्विग्रहधारित्वादृजुमतिभिः, अकपटचारिभिश्च । तथा कर्णाभ्यां सह वर्तन्त इति सकर्णकाः तैश्चक्षुःश्रवस्त्वं विहाय । आविष्कृतकर्णैरित्यर्थः । तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'शेषाद्विभाषा' इति कप् । अन्यत्र कर्णयति सर्वं शृणोतीति कर्णको नियन्ता । कर्णयतेर्ण्वुल् । ततः पूर्ववत्समासे सकर्णकैः । सनियामकैरित्यर्थः । फणिनां सर्पाणां कुलैर्वर्गैर्भुजङ्गता सर्पता, विटत्वं च । 'भुजगो विटसर्पयोः' इति हलायुधः । न भेजे त्यक्त । भुजैर्गच्छन्तीति भुजंगाः । गमेः सुपि 'खच् च डिद्वा वाच्य.' । तस्मिन्नियन्तरि खलैः खलत्वमपि, सर्पत्वमपि विहाय । वेषभावक्रियाभिः सौम्यत्व श्रितमित्यर्थः । अत्र प्रस्तुतसर्पविशेषणसाम्यादप्रस्तुतखलव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः ॥

व्याकरण—मर्माविधम्—मर्माणि विध्यति इति मर्मावित् (मर्मन् + व्यध् + क्विप् कर्तरि) उपपदतत्पु० । यहाँ 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' ॥ ६।१।१६ ॥ अर्थात् 'उक्त धातुओं के आगे कित् और ङित् प्रत्यय लगने पर संप्रसारण (य, व, र, ल के स्थान में इ, उ, ऋ, ऌ,) हो जाता है - इस नियम से क्विप् के कित् प्रत्यय होने के कारण व्यध् के य् के स्थान मे इ होगा। फिर् 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' ॥ ६।३।११६॥ अर्थात् 'उक्त धातुओ के क्विबन्त रूपों के उत्तरपद होने पर पूर्व पद को दीर्घ हो जाता है,—इस नियम से मर्म को दीर्घ होकर मर्मा हो जायगा । इस प्रकार 'मर्माविध्' पद बनेगा ॥ द्विजिह्वतादोषम्—द्वे जिह्वे

येषां ते द्विजिह्वाः, तेषां भावः द्विजिह्वता। सा एव दोष इति द्विजिह्वतादोषः (कर्मधा०), तम् ॥ अजिह्मगामिनः—अजिह्म यथा तथा गच्छन्ति इति अजिह्मगामिनः (अजिह्म+गम्+णिनिः कर्तरि ताच्छील्ये), उपपद तत्पु०, तैः ॥ इद्धम्=इन्ध्+क्त कर्तरि। सकर्णकैः=कर्णाभ्यां सहेति सकर्णकाः; सह+कर्ण+क समासान्त) तुल्ययोगबहुव्रीहिः सूचकपक्षे—कर्णयति शृणोति इति कर्णक (कर्ण+ण्वल्) नियन्ता इत्यर्थः, तेन सह इति सकर्णका (तुल्ययोग बहुव्रीहिः) तैः ॥ भजङ्गता=भुजेन कौटिल्येन गच्छति इति भुजङ्गः (भुज+गम्+खच् कर्तरि) उपपदतत्पु०, तस्य भाव भुजङ्गता ॥

अलंकार—यहाँ प्रस्तुत सर्प के लिए कहे गए विशेषणो से अप्रस्तुत खल (सूचक) के व्यवहारो की प्रतीति होती है, अतः समासोक्ति अलंकार है।

भावार्थ—रावणे शास्तरि तं तोषयितुं सर्पाः परममर्मस्थलभेदिदृष्टि-विषत्वकुटिलगामित्वचक्षुःश्रवस्त्वादिरूप सर्पत्वं खलाश्च पररहस्यसूचकत्वकुटिल-गतित्वादिरूपं खलत्वं परित्यज्य सौम्यत्व श्रिता इति भावः।

+

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभिश्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः ॥६५॥

अन्वय—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः गृहीतदिक्कैः अपुनर्निवर्तिभिः दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यम् अलम्भि।

अर्थ—उसके हाथियो के दलो से घायल होने के कारण मदजल (नीर) से विहीन गण्डस्थल वाले दिग्गजों ने (भागकर) दिशाओ मे आश्रय लेकर तथा वहा से फिर न लौटकर चिरकाल के लिए 'दिग्गज' नाम सार्थक कर दिया।

तदीयेति ॥ तदीयमातङ्गाना घटाभिर्व्यूहैः विघट्टितैरभिहतैः। 'गजानां

घटना घटा' इत्यमरः। अत एव कटस्थलेभ्यः प्रोषितान्यपगतानि दानवारीणि येषां तैः। गृहीताः पलाय्य सश्रिता दिशो यैस्तैर्गृहीतदिक्कैः। 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। अपुनर्निवर्तिभिर्भयात्तत्रैव स्थितैर्दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यं दिक्षु स्थिता गजा दिग्गजा इत्यनुगतार्थनामकत्वमलम्भि लब्धम्। लभेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति विकल्पान्नुमागमः।

व्याकरण—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः—तदीयाः (तद्+छ) ये मातङ्गाः तदीयमातङ्गाः (कर्मधा०), तेषां घटाः (ष० तत्पु०), ताभिः विघट्टिताः (तृ० तत्पु), तैः॥ कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः—प्रशस्तः कटः कटस्थलम् (नित्य कर्मधा०—'प्रशंसावचनैश्च' नियम से 'स्थल' यहाँ नित्यसमास मे प्रशंसावाचक शब्द है—"मतल्लिकोद्धमिश्राः स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तयः। हस्तपाशतटाः पादपालीमचर्चिकादयः।") कटस्थलात् प्रोषितानि दानवारीणि येषां ते कट—वारयः (ब० व्री०), तैः॥ गृहीतदिक्कैः—गृहीताः दिशः यैः ते गृहीतदिक्काः (गृहीतदिश्+कप् समासान्त) ब० व्री०, तैः॥ अपुनर्निवर्तिभिः—पुनः निवर्तन्ते इति पुनर्निवर्तिनः (उप० तत्पु०), न पुनर्निवर्तिन इति अपुनर्नवर्तिनः (नञ् तत्पु०)। याथार्थ्यम्—यथार्थस्य भावः याथार्थ्यम् (यथार्थ+ष्यञ्)॥

कोष – मातङ्ग-'गजेऽपि नागमातङ्गौ' इत्यमरः। कट—'गजगण्डे कटौकटौ' इत्यमरः।

दिग्गज —'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः॥' इत्यमरः।

भावार्थ—रावणस्य महाबलैर्गजैः पराभूताः ये गजाः दिगन्तानधिश्रित्य अद्यापि भयातङ्किताः तत्रैव स्थिताः ततो न पुनरावर्तन्ते, त एव दिग्गजाः इति अन्वर्थं निगद्यन्ते॥

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैर्यथा ।
सचन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ॥६५॥

अन्वय—सोष्मणः तस्य वपुः अभीक्ष्णम् उष्णैः अपि सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैः यथा निर्ववौ, तथा सचन्दनाम्भःकणकोमलैः जलार्द्रापवनैः न (निर्ववौ) ।

अर्थ—मदन-ज्वर से सन्तप्त उस रावण का शरीर देवराज इन्द्र की बन्दियो के अत्यन्त उष्ण निःश्वास से जैसा शान्त (सुखी) होता था, वैसा चन्दन-मिश्रित जल के कणो से सिञ्चित होने के कारण मृदुल ताड के पखो के वायु से (भी) नही ।

टिप्पणी—रावण देवराज इन्द्र की सुन्दरियो को बलात् बन्दी बनाकर जब उनसे अपने यहाँ पखा डुलाने आदि का कार्य लेता था तो सुरसुन्दरियाँ अपनी दुर्गति देख कर दुःख का उष्ण एव दीर्घ निःश्वास छोडती थी । रावण को जो सुख इससे होता था, वह पखे के वायु से भी नही ।

अभीक्ष्णमिति ॥ ऊष्मणा स्मरज्वरेण सहितः सोष्मा तस्य सोष्मणस्तस्य रावणस्य वपुरभीक्ष्ण भृशमुष्णैरपि । शोकादिति भावः । सुरेन्द्रस्य बन्द्यः बन्दीकृताः स्त्रियः तासां श्वसितानिलैर्निःश्वासमारुतैर्यथा निर्ववौ निर्वृतम् । 'निर्वाण निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती । तथा सचन्दनाम्भःकणाः चन्दनोदकविन्दुसहिताः ते च ते कोमला मृदुलाश्च तैर्जलार्द्राणा जलोक्षिततालवृन्तानां पवनैर्न निर्ववौ । 'धुवित्र तालवृन्त स्यादुत्क्षेपव्यजन च तत्' । 'जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात्' इति वैजयन्ती । अत्र संतप्तस्योष्णोपचारान्निर्वृतिरिति कारणविरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालंकारः ॥

व्याकरण—सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैः—सुरेन्द्रस्य बन्द्यः इति सुरेन्द्रबन्द्यः

(ष० तत्पु०), तासां श्वसितानि (ष० तत्पु०), तेषाम् अनिलाः सुरे-निलाः (ष० तत्पु०), तैः ॥ सचन्दनाम्भःकणकोमलैः—चन्दनेन सह सचन्दनम् (ब० व्री०), सचन्दनम् च तत् अम्भश्च (कर्मधा०), तस्य कणाः (ष० तत्पु०), तैः कोमलाः (सुप्सुपा) तैः ॥ जलार्द्रापवनैः—जलार्द्राणा पवनाः (ष० तत्पु०), तैः ॥ निर्ववौ —निर्+वा+लिट् तिप् (णल्) ॥

कोष—अभीक्ष्णम् 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत् समाः'—अमरः । बन्दी —'प्रग्रहोपग्रहौ बन्द्याम्' इत्यमरः ।

अलङ्कार—यहाँ 'सतप्त रावण को उष्णोपचारो (शीत नही) से शान्ति मिलती है' इस प्रकार कारण के विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति हो रही है । अतः विषमालङ्कार है ।—सर्वङ्कषा ।

भावार्थ—स्मरज्वरतप्तो रावणः चन्दनजलादिशीतलीकृतव्यजनपवनेन तथा न शान्तिमाप यथा व्यजनचालने नियुक्ताना बन्दीना सुरेन्द्रसुन्दरीणां दीर्घदुःखनिःश्वासमारुतेन ॥

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥६६॥

अन्वय—सदा प्रसूनक्लृप्तिं दधतः वर्षाः तपेन, हिमागमः शरदा, शिशिरः वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य अस्य पुरे वास्तव्यकुटुम्बिता ययुः ।

अर्थ—ग्रीष्म के साथ वर्षा, शरद् के साथ हेमन्त तथा शिशिर के साथ वसन्त मिल कर उस रावण की राजधानी में सदा कुसुमो की वृद्धि (सम्पत्ति) लिए हुए साथ के रहने वाले कुटुम्बी—पड़ोसी—बन गए थे ।

टिप्पणी—माघ का यह श्लोक सदोष लगता है। ऋतुओं की रावण के पड़ोसी परिवारो के रूप मे जो कल्पना प्रस्तुत की गई है, उसका आधार उनके पति-पत्नी रूप की कल्पना तथा उनके आने से उत्पन्न फूलों के सन्तति-रूप की कल्पना ही है। पत्नी पति की अनुगामिनी होती है—इस भाव को लेकर ग्रीष्म के बाद आने वाली वर्षा तथा शिशिर के बाद आने वाले वसन्त की स्त्रीरूप मे कल्पना की गई है। इसमें 'वर्षा' शब्द का स्त्रीत्व तथा 'वसन्त' के साथ लक्ष्मी पद का योग सहायक हो गए है। पर इस क्रम का 'शरदा हिमागमः' में निर्वाह न होने से परिवार की कल्पना सम्यक् नही की जा सकती। इसके अतिरिक्त 'तपेन वर्षाः' की भाँति 'शिशिरेण वसन्तलक्ष्मीः' न होने से भग्नप्रक्रम दोष भी है।

तपेनेति ॥ सदा नित्य न तु यथाकालं प्रसूनक्लृप्तिं कुसुमसंपत्तिम्। 'प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः। दधतो धारयन्तः ऋतवो वर्षाः प्रावृट् तपेन ग्रीष्मेण। 'उष्ण उष्मागमस्तपः' इति, 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरत्स्त्रियाम्' इति चामरः। तथा हिमागमो हेमन्तः शरदा, तथा शिशिरो वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य मिथुनीभावेन मिलित्वा अस्य रावणस्य पुरे वसन्तीति वास्तव्याः वस्तारः। 'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' इति तव्यत्प्रत्ययः। ते च कुटुम्बिनश्च तेषां भावं तत्ताम् प्रतिवासित्वमित्यर्थः। ययुः समेत्य ययुरिति समुदायसमुदायिनोरभेदविवक्षया समानकर्तृकत्वम्। अत्र पुरे युगपत्सर्वर्तुसंबन्धाभिधानादसंबन्धे संबन्धरूपातिशयोक्तिः॥

व्याकरण—वर्षाः—स्त्रीलिङ्ग बहुवचन—"आपः सुमनसो वर्षा अप्सरःसिकतासमाः। एते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वेऽप्युत्तरत्रयम्॥" हिमागम—हिमम् आगमयति इति हिमागमः (हिम+आगम्+ णिच्+अण् कर्तरि)

उपादितत्पु० ॥ वास्तव्यकुटुम्बिताम्—वसन्ति इति वास्तव्याः (वस्+णिच्+तव्यत् कर्तरि="वसेस्तव्यत् कर्त्तरि णिच्च" (वा) नियम से वस् धातु से णिच् होकर फिर कर्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय हुआ।) वास्तव्याश्च ते कुटुम्बिनश्च इति वास्तव्यकुटुम्बिनः (कर्मधा०); तेषां भावः, ताम् ॥

अलङ्कार—यहाँ रावण के पुर में एक साथ सभी ऋतुओं का रहना कहा गया है, अतः असम्बन्ध में सम्बन्ध-कथन-रूप अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥

भावार्थ—सर्वे ऋतवो रावणपुरे युगपदेव निवसन्तः तत्र अतितरां प्रसूनवृद्धिं चक्रुरिति भावः।

स चायमासन्नविनाशस्तुभ्यमपि द्रुग्ध्वा पुनस्त्वयैव हत इति युग्मेनाह—

अमानवं जातमजं कुले मनोः प्राविनं भाविनमन्तमात्मनः।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाभिमानैकधनः हि मानिनः ॥६७॥

अन्वय—अमानवम् अज (तथापि) मनोः कुले जात प्रभाविनं (भवन्तं) आत्मनः भाविनं अन्तं जानन्नपि यः जानकीं न मुमोच। मानिनः हि सदा अभिमानैकधनाः।

अर्थ—अमानव एवं अजन्मा तथापि मनुवंश में उत्पन्न, प्रभावशाली आप को अपना भावी हन्ता (विनाशक) जानते हुए भी उसने जानकी जी को नहीं छोड़ा। मानियों का अभिमान ही सदा एकमात्र धन होता है।

अमानवमिति ॥ मनोरयं मानवः। 'तस्येदम्' इत्यणप्रत्यये अर्थवसानाज्जातावेकवचनम्। अन्यथा मनोर्जातमित्येव स्यात्। अमानवममानुषम्। न जायत इत्यजम्। 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः। तथापि मनोः कुले जातं

रामस्वरूपेणोत्पन्नमिति विरोधः। स चाभासत्वादलंकार इत्याह—प्रभाविनमिति। महानुभावे तस्मिन्न कश्चिद्विरोध इति भावः। आभीक्ष्ण्ये णिनिः। इनिर्वा मत्वर्थीयः। भवन्तमिति शेषः। आत्मनः स्वस्यान्तमत्यन्त करोतीत्यन्तम्। अन्तशब्दात् 'तत्करोति—'इति ण्यन्तात्पचाद्यच्। भाविन भविष्यन्तम् 'भविष्यति गम्यादय.'। जानन्नपि यो रावणः जनकस्यापत्य स्त्री जानकी सीता ता न मुमोच नामुञ्चदित्यन्वयः। जानतोऽप्यमोचने कारणमाह—मानिनः सदाप्राणात्ययेऽप्यभिमान एवैक मुख्य धन येषा ते। प्राणात्ययेऽपि न मान मुञ्चन्तीत्यर्थः। कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तिरन्यासः॥

व्याकरण—अमानवम्—न मानवः अमानवः (नञ् तत्पु०) तम्। अजम्—न जायते इति अजः (नञ्+जन्+डः कर्तरि भूते) उप० तत्पु०, तम्॥ प्रभाविनम्—प्रभावः अस्ति अस्य इति प्रभावी (प्रभाव+इनिः मत्वर्थे), तम्। यहाँ न को ण विकल्प से होता है "प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च ८।४।११" अभिमानैकधना—अभिमानः एव एक धन येषा ते (ब०व्री०)।

अलङ्कार—यहाँ 'अजम् मनोः कुले जातम्' मे विरोधाभास है, तथा अन्त मे 'अभिकानैकधना हि मानिनः' इस कारण से 'जानकीं न मुमोच' आदि कार्य का समर्थन किया गया है, अतः, अर्थान्तिरन्यास अलङ्कार है—"सामान्य विशेषभावकार्यकारणभावाभ्या निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तिरन्यासः।" अलङ्कारसर्वस्व।

भावार्थ—स एव रावणः (वैवस्वत—) मनुवशे अवतीर्णं मानुषविग्रहधारिणमपि साक्षात् प्रभविष्णु विष्णु रामरूप भवन्त स्वाभिहन्तार जानन्नपि वने भवत पत्नी जानकीम् अपहृत्य पुनः आमरणं नार्पयत्।

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवानमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम् ।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥

अन्वय—भवान् दाशरथिः भवन् वनान्तात् वनितापहारिणम् अमुम् आबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति । अदः स्मरति ?

अर्थ—आपने दशरथपुत्र राम बनकर दण्डकारण्य से सीता जी को चुराने वाले उसे, बाँधे जाने के कारण चञ्चल अत एव गन्दे समुद्र को पार कर, लङ्का के समीप मारा था—स्मरण है न ?

स्मरतीति ॥ भातीति भवान् । भातेर्डवतुः । दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः । 'अत इञ्' इतीञ् प्रत्ययः । भवन् । रामः सन्नित्यर्थः भवतेर्लटः शत्रादेशः । वनान्ताद्दण्डकारण्याद्वनितापहारिणं सीतापहर्तारममुं रावणम् । आबद्धः प्रक्षिप्ताद्रिभिर्बद्धसेतुः अतएव चलन्ति जलानि यस्य स च । अत एव आविलश्च आबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा लङ्कासमीपे । 'समयानिकषाशब्दौ सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः । 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । हनिष्यति अवधीत् । अभिज्ञावचने लृट् इति भूते लृट् । अदो हननं भवान्स्मरतीति काकुः । प्रत्यभिजानासि किमित्यर्थः । शेषे-प्रथमः ॥

व्याकरण—दाशरथिः—दशरथस्य अपत्यं पुमान् इति दाशरथिः (दशरथ + इञ्) ॥ वनितापहारिणम्—वनिताम् अपहृतवान् इति वनितापहारी (वनिता + अप + हृ + णिनिः कर्तरि), । तम् ॥ आबद्ध-चलज्जलाविलम्—चलन्ति जलानि यस्य स चलज्जलः (ब० व्री०) । आबद्धश्च चलज्जलश्च आ—लः (कर्मधा०) । तादृशश्च आविलश्चेति आबद्ध-लः (कर्मधा०), तम् ॥

लङ्काम्—निकषा (समीपार्थ अव्यय) के योग में लङ्काम् मे द्वितीय प्रयुक्त हुई है । हनिष्यति—हन्+लृट् तिप् (यहाँ 'अभिज्ञावचने लृट् ३।२।११२" अर्थात् जहा अतीत की स्मृति दिलाने वाला शब्द प्रयुक्त होता है, वहा भूतार्थ मे ही लृट् लकार का प्रयोग किया जाता है—' इस नियम से लृट् लकार का प्रयोग किया गया है ।

कोष—वनिता="वनिता जनितात्यर्थनुरागायां च योषिति"

आविल=कलुषोऽनच्छ आविलः—अमर ।

भावार्थ—तदा दशरथपुत्रत्वेनावतीर्णो भवान् वनमध्यात् दारापहारिणम् एनं पयोधौ सेतुं निर्माय्य तमुल्लङ्घ्य लङ्कामाक्रम्य युद्धे हतवान् इति किं स्मरति ?

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते संप्रति सोऽप्यसः परैः ॥६९॥

अन्वय—अथ सम्प्रति छलनापरः एषः शैलूषः भूमिकाम् इव अपराम् उपपत्तिम् अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा सोऽपि परैः असः प्रतीयते ।

अर्थ—इसके अनन्तर अब दूसरों को छलने मे तत्पर यह रावण अन्य रूप धारण करने वाले नट की भाँति दूसरा जन्म धारण करने एवं शिशुपाल नाम द्वारा पूर्वस्वरूप के छिप जाने से वही होने पर भी दूसरो को उससे भिन्न प्रतीत होता है ।

अथेति ॥ अथ राक्षसदेहत्यागानन्तरं संप्रति छलनापरः परप्रतारणापरः एष रावणः शैलूषो नटः । तस्य भूमिकां रूपान्तरमिव । "शैलूषो नटभिल्लयोः' 'भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे' इति विश्वः । अपरामुपपत्तिम् । जन्मान्तरमित्यर्थः । अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा । तिरोहितस्वरूपः सन् सोऽ

पि रावण एव सन्नपि परैरितरैः स न भवतीत्यसः तस्मादन्य एव। 'नञ्' इति नञ् समासः। अत एव एततदोः सुलोपो—' इत्यादिना न सुलोपः। प्रतीयते ज्ञायत इति प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लट्। यथैक एव शैलूषो रूपान्तरमास्थाय तद्देशभाषादिभिरन्य एव प्रतीयते तद्वदयमपि मानुषदेहपरिग्रहादन्य इव भाति। दौर्जन्य तु तदेवेत्यवश्य साहर्य इति भाव.॥

व्याकरण—उपपत्तिम्—उप+पद्+क्तिन् भावे स्त्रियाम्, ताम्॥ छलनापरः—छलना पर प्रधान यस्य सः छलनापरः (ब०व्री०) अवाप्य—अव+आप्+ल्यप्॥ तिरोहितात्मा—तिरोहितः आत्मा यस्य स तिरोहितात्मा (ब० व्री०)॥ शिशुपालसञ्ज्ञया — शिशुपाल इति सञ्ज्ञा शि—ज्ञा (कर्मधा०), तथा॥ प्रतीयते—प्रति+इ+लट् त कर्मणि॥ असः—न सः असः (नञ्-तत्पु०) नञ् समास होने के कारण ही यहाँ तद् (सः) का विसर्ग (आगे हल् वर्ण के रहते हुए भी) लुप्त नही हुआ—"एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासेहलि ६।१।१३२॥

भावार्थ—यथा नटः रूपान्तरमाधाय अन्य इव प्रतीयते तथैव स रावण एव साम्प्रत शिशुपाल इति मनुष्यविग्रहमाधाय अन्य इव भासते॥

अथैतद्दौर्जन्य त्रिभिराविष्करोति—

स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः॥
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसशय सम्प्रति तेजसा रविः॥७०॥

अन्वय—स बालः (सन्) वपुषा चतुर्भुज., मुखेन पूर्णेन्दुनिभः त्रिलोचनः आसीत्। सम्प्रति युवा (सन्) कराक्रान्तमहीभृत् उच्चकैः तेजसा असशय रविः (अस्ति)।

पर्वता वा) येन सः करा—भृत् (ब० व्री)।। तेजसा— यहाँ 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' नियम से तृतीया हुई है ।।

अलङ्कार—यहाँ 'कर' तथा महीभृत्' मे आए हुए श्लेष से अनुप्राणित 'यह निश्चय (असशयम्) रवि ही है' इस प्रकार का उत्प्रेक्षाअलङ्कार है। फिर इस उत्प्रेक्षा अलंकार को 'पूर्णेन्दुनिभः' मे प्रयुक्त उपमा के साथ 'संसृष्टि' भी है ।

भावार्थ—असौ शिशुपालः बाल्ये त्रिभिर्लोचनैः चतुर्भिर्भुजैश्च युक्तः पूर्णचन्द्रसदृशाननः आसीत् सम्प्रति यौवने च धाम्ना साक्षात् रविरिव प्रतीयते ॥

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया
दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्हसत्यसौ ॥७१॥

अन्वय—यदृच्छया स्वय सुरदैत्यरक्षसाम् अनुग्रहावग्रहयोः विधाता असौ अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् दशाननादीन् हसति ।

अर्थ—स्वेच्छा से देवताओ, दैत्यों और राक्षसो पर स्वयं ही अनुग्रह (प्रसाद) एवं निग्रह (दण्ड) करने वाला यह शिशुपाल आराधित (शिवादि) देवों के द्वारा दिए गए महान् पराक्रम वाले रावण आदि का परिहास करता है।

टिप्पणी— -शिशुपाल रावण आदि अन्य ऐश्वर्यशाली राक्षसों का इसलिए परिहास करता है कि देवों और दानवों पर होने वाला उनका प्रभुत्व शिव आदि देवों से ही (तपस्या करने पर) प्राप्त हुआ था परन्तु उसका प्रभुत्व अपने ही सामर्थ्य के कारण था ।

स्वयमिति ।। यदृच्छया स्वयं सामर्थ्येन । न तु देवताप्रसादबलादिति भावः । सुरदैत्यरक्षसा देवदानवयातुधानानामनुग्रहावग्रहयोः प्रसादनिग्रहयोर्विधाता

कर्ता असौ शिशुपालः अभिराद्धाभिराराधिताभिर्देवताभिरीश्वरादिभिर्वितीर्णो दत्तो वीर्यातिशयः प्रभावातिशयो येषां तान्दशाननादीन्हसति । अनन्यप्रसादलब्धैश्वर्ये मयि कथं याचकैस्तुल्यतेति गर्वाद्धसतीत्यर्थः ॥

व्याकरण—सुरदैत्यरक्षसाम्—दितेः अपत्यानि पुमासः दैत्याः (दिति + ण्य)। सुराश्च दैत्याश्चरक्षांसि च सुरदैत्यरक्षासि (द्वन्द्व), तेषाम् ॥ अनुग्रहाव-ग्रहयोः—अनुग्रहश्च (अनु + ग्रह + अप् भावे) अवग्रहश्चेति, अनु— हौ (द्वन्द्व) तयोः ॥ अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्—अभिराद्धाः (अभि + राधु + क्त कर्मणि) देवताः, अ—ताः (कर्मधा०)। ताभिः वितीर्णः, अभि-—र्णः (तृ० तत्पु०); अभिराद्धदेवतावितीर्णः वीर्यातिशयः येभ्यः ते अभि—याः (ब० व्री), तान् ॥

भावार्थ—सर्वथा स्वच्छन्दस्य देवदानवराक्षसानपि अभिभवितुः मे पुरतः अन्यप्रसादाल्लब्धैश्वर्याणाम् दशाननादीना पूर्वेषा का गणनेति शिशुपालः सावहेल तान् हसतीव ॥

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ७२

अन्वय—जिगीषुणा तेन बलावलेपात् अधुनापि पूर्ववत् जगत् प्रबाध्यते । सती योषित् इव सुनिश्चला प्रकृतिः भवान्तरेष्वपि पुमासम् अभ्येति ।

अर्थ—विजयाभिलाषी यह शिशुपाल अपने पूर्व जन्मो की भाँति इस जन्म मे भी जगत् को सन्ताप दे रहा है। सती स्त्री की भाँति मनुष्य की सुस्थिर प्रकृति दूसरे जन्मो मे भी उसका अनुसरण करती है—उसे प्राप्त होती है ।

बलेति ॥ जिगीषुणा । नित्योत्साहवतेत्यर्थः । तेन शिशुपालेन बलावलेपाद्बलगर्वादधुनापि पूर्ववत्पूर्वजन्मनीव जगत्प्रबाध्यते । तथा हि सती पतिव्रता

योषिदिव सुनिश्चलातिस्थिरा प्रकृतिः स्वभावो भवान्तरेषु जन्मान्तरेष्वपि पुमासमभ्येति। 'पतिं या नाभिचरति मनोवाक्कायसयता सा भर्तुर्लोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥' इति मनुः। उपमोपमेयपुरस्कृतोऽर्थान्तरन्यासः ॥

व्याकरण—बलावलेपात्—बलस्य अवलेपः (अव+लिप्+घञ्) ब—पः (ष० तत्पु०) तस्मात् ॥ पूर्ववत्—यथा पूर्वयो: (हिरण्यकशिपुरावणजन्मनोः) इति पूर्ववत् (पूर्व+वति) यहा 'तत्रतस्येव' ५।१।११६ " 'वहाँ की भाँति' तथा 'उसकी भाँति' इस अर्थ मे प्रातिपदिक (शब्द) से वति प्रत्यय हुआ। जिगीषुणा—जेतुमिच्छुः जिगीषुः (जि+सन्+उ कर्तरि), तेन ॥ भवान्तरेषु—अन्ये भवाः भवान्तराणि (मयूरव्यसकादि समास), तेषु ॥

कोष—प्रकृति—'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः। योनौ लिङ्गे पौरवर्गे" इति मेदिनी ॥ भव—'जन्महरौ भवौ इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ पूर्व का उत्तर से समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलकार है और इसकी पुष्टि 'सतीव योषित्' मे प्रयुक्त उपमा द्वारा की गई है।

भावार्थ—यथा पूर्वयो: हिरण्यकशिपुरावणजन्मनो. जगत्पीडनम् अस्य स्वभाव आसीत् तथैव अस्मिन् शिशुपालजन्मन्यपि बलगर्वात् वर्तते। वस्तुतस्तु पतिव्रता भार्येव जनस्य प्रकृतिः जन्मान्तरेष्वपि तमनुयात्येव ॥

तदेनमुल्लङ्घितशासन विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम्।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो निपातनीया हि सतामसाधवः ॥७३॥

अन्वय-ततः विधे उल्लङ्घितशासनम् एन कीनाशनिकेतनातिथिं विधेहि शुभेतराचारविपक्त्रिमापद असाधव सता निपातनीया हि।

अर्थ—अतएव विधाता की (भी) आज्ञा का उल्लंघन करने वाले इस शिशुपाल को यमपुरी का अतिथि बनाइए क्योंकि (अपने) दुराचारों के फलस्वरूप प्राप्त हुई आपदाओं वाले दुर्जनों का विनाश तो सज्जनों को करना ही चाहिए।

तदेनमिति ॥ तत्तस्माद्विधेर्विधातुररप्युल्लङ्घितशासनम् । स्वयं विधातेत्याद्युक्तरीत्यातिक्रान्तदैवशासनमित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। एनं शिशुपाल कीनाशनिकेनातिथि कीनाशो यमस्तस्य निकेतनं गृहं तत्रातिथि प्राघुणिक विधेहि कुरु। यमगृह प्रेषयेत्यर्थः। 'कीनाश. कर्षके क्षुद्रे कृतान्तोपाशुघातिनोः' इति विश्वः। न चैत्प्राघुणिकहस्तेन सर्पमारणं भवादृशामवश्यकर्तव्यत्वादित्याह—शुभेतराचारेण दुराचारेण विपक्त्रिमाः परिपाकेन निर्वृत्ता· कालपरिपाकेन प्राप्ता आपदो येषां ते तथोक्ताः। 'ड्वितः क्त्रिः' इति पचेः 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति तद्धितो मम्प्रत्यय। असाधवो दुष्टाः सतां भवादृशां जगन्नियन्तॄणां निपातनीया· वध्या हि न च नैघृण्यदोषः। स्वदोषेणैव तेषां विनाशे निमित्तमात्रत्वादस्माकमित्याशयेन शुभेतराचारेत्यादिविशेषणोक्तिः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥

व्याकरण—उल्लङ्घितशासनम्—उल्लङ्घितं (उद्+लङ्घ्+क्त कर्मणि) शासनं येन स उल्ल—नः (ब० व्री०), तम् ॥ कीनाशनिकेतनातिथिम्—की (कुत्सितार्थे अव्ययम्) नाशयति इति कीनाशः यमः (की+नश्+णिच्+अच्)। तस्य निकेतनम् की—तनम् (ष० तत्पु०)। तस्य अतिथिः कीना······तिथिः (ष० तत्पु०) तम् ॥ शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः—शुभात् इतरः शुभेतर (सुप्सुपा)। तादृश आचारः, शुभे··· चारः (कर्मधा०), तेन विपक्त्रिमा (वि+पच्+क्त्रि भावे+मम्—विशेष

सर्वङ्कषा मे) ॥ तादृश्यः आपदः येषा ते शुभे'' म्पदः (ब० व्री०) ॥ सताम् –(अस् + शतृ कर्तरि) सन्त, तेषाम् —यहाँ कृत्यानां कर्तरि वा २।२।७१ नियम से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हुई है ।) ॥

कोष—कीनाश—कृतान्ते पुंसि कीनाशः क्षुद्रकर्षकयोस्त्रिषु—इत्यमरः ।

अलङ्कार –यहाँ विशेष (शिशुपालवध) का समर्थन सामान्य (सज्जन द्वारा असाधुवध होना चाहिए—इसके) द्वारा किया गया हैं अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

भावार्थ –अतः अतिक्रान्तमर्याद दुष्टमेन शिशुपालं भवान् अवश्यं निपातयतु यतः दुराचारिणः सद्भिः सदा दण्डनीया एव ।

हृदयमरिवधाद्युदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥७४॥

अन्वय—अरिवधोदयात् उदूढद्राघिम पुरन्दरस्य हृदयं पुनः घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् दधातु ।

अर्थ—शत्रु के नाश से दृढीभूत इन्द्र का वक्षःस्थल फिर से अत्यन्त पुलकित इन्द्राणी के स्तनों के गाढालिङ्गन की पीडा को सहने योग्य बन जाय ।

हृदयमिति ॥ अरिवधोदयाद्रिपुनाशलाभात् । उदूढद्रढिम नैश्चिन्त्याद्दृढत्वम् । स्वस्थमितियावत् । पृथ्वादित्वाद्दृढशब्दादिमनिच्प्रत्ययः 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रेफादेशः । पुरः शत्रुपुराणि दारयतीति पुरदर इन्द्रः । 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रययः 'खचिह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वः। 'वाचंयमपुरंदरौ च' इति निपातनादनन्तत्व मुमामगमश्च तस्य हृदयं पुनर्भूयोऽपि ।